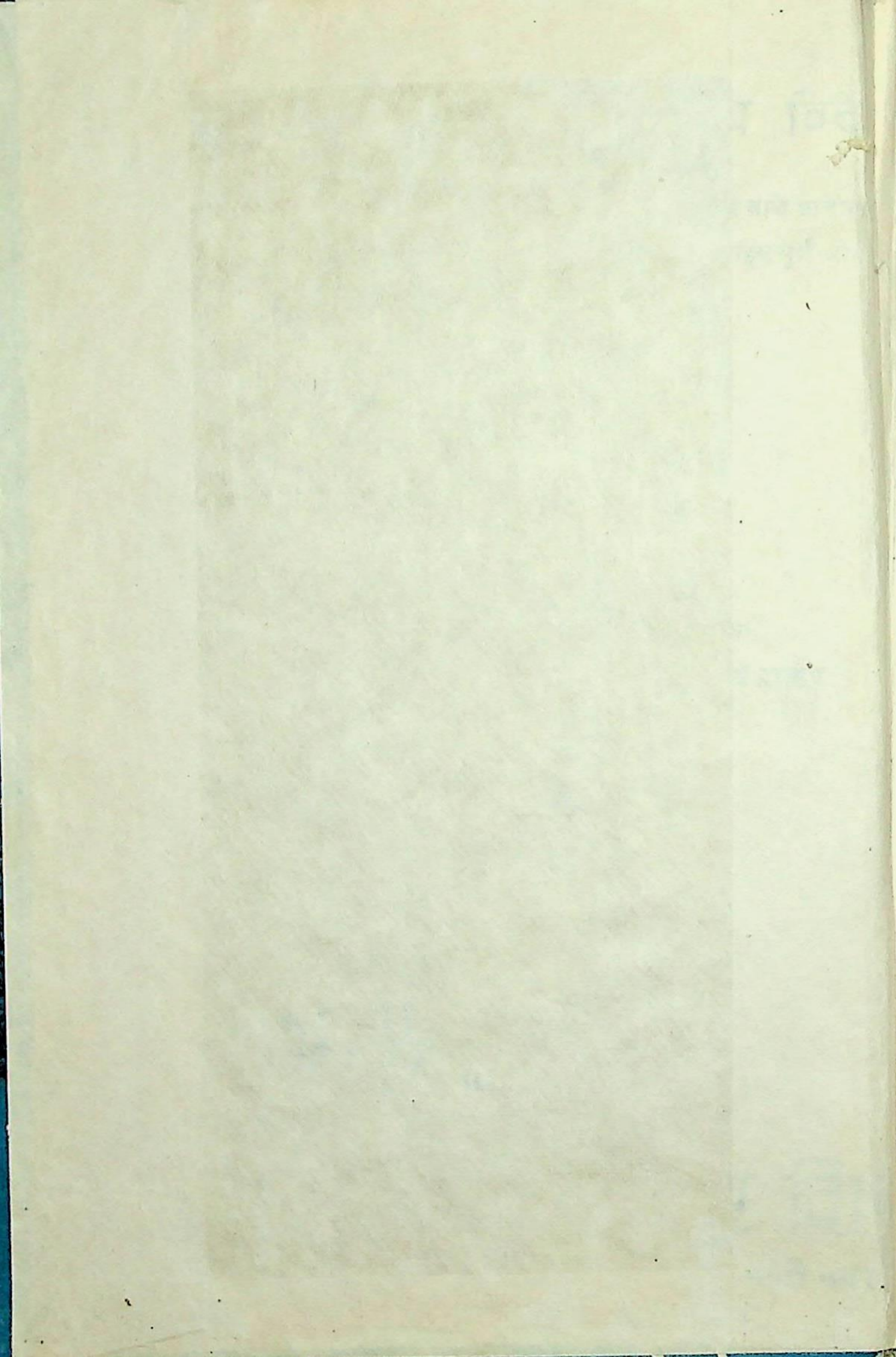
प्राचीन भारतीय विदेश-यात्री







प्राचीन भारतीय विदेश-यात्री

सुदूर विदेशों की यात्रा करने वाले प्राचीन भारतीय-
संस्कृति-दूतों की अपूर्व साहस-पूर्ण जीवन-गाथाएं

लेखक
जगन्नाथ प्रभाकर


किताबघर दिल्ली-31
मेनरोड, गांधी नगर

यह पुस्तक भारत के सभी राज्यों में स्कूलों एवं कालेजों की लाइब्रेरियों के लिये शिक्षा विभाग की ओर से स्वीकृत है।

संस्करण, १९७४

आवरण : चित्रकार पाल बन्धु

मूल्य : ६ रुपये

प्रकाशक : किताबघर, मेन रोड, गांधी नगर, दिल्ली-३१

मुद्रक : अशोक कुमार रावत, अशोक प्रिंटर्स,
धर्मपुरा, गांधी नगर दिल्ली-३१

"Prachin Bhartiya Videsh Yatri" (Hindi)
By Jagannath Prabhakar
Rs. 6.00

प्रागैतिहासिक युग में मानव-मात्र के
अभ्युदय के लिये अपने जीवन की
बाज़ी लगा कर प्राचीन भारतीय
संस्कृति व ज्ञान के आलोक को
सुदूर विदेशों में फैलाने वाले
उन अज्ञात् मृत्युंजयी
भारतीय यात्रियों
के नाम

○

विषय सूची

भूमिका

हमारे विद्यालयों की पाठ्य-पुस्तकों तथा लोक-पुस्तकालयोपयोगी साहित्य में कोलम्बस, मार्कोपोलो, वास्कोडिगामा आदि अनेक विदेशी साहसी यात्रियों के रोमांचकर यात्रा-विवरणों तथा जीवन-कहानियों को तो बड़े महत्त्व के साथ प्रस्तुत किया जाता है, परन्तु इस 'जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' भारत माँ की गोद में कभी किसी महान् यात्री का भी आविर्भाव हुआ था, इस विषय में कोई चर्चा इन पुस्तकों में नहीं होती।

प्रश्न उठता है, क्या यह भारत देश, जिसके गीत देवता भी गाते हैं[1], जिसकी महिमा से प्राचीन भारतीय ग्रंथ भरे पड़े हैं, जहाँ जन्म लेने को देवता भी तरसते हैं, जिसे विदेशी मनीषियों ने 'संसार का संक्षेप या नमूना स्वीकार किया है'[2], जो पश्चिमी इतिहासवेत्ताओं के कथनानुसार "पाश्चात्य जगत् की कल्पना में सदा से सुषमा-सम्पन्न विशाल हेम-हीरों की प्रभा से जगमगाता, भीनी-भीनी सुन्दर सुगंधि से सुरभित रहा है, जो वसुन्धरा के विशाल वक्षस्थल पर एक नगीने की भांति शोभित देश है और जिसकी रंग-ब-रंग प्राकृतिक शोभा की विभूति, भूमि की बहुमूल्य उपज मुश्किल से किसी अन्य देश को सुलभ होगी"[3],—अन्य देशों के ऐसे साहसी यात्री

१. गायन्ति देवाः किल गीतकानि, धन्यास्तु ये भारत–भूमि मागे।
स्वर्गा पवर्गस्य च हेतु भूते, भवन्ति भूयः पुरुषा सुरन्वात्॥ (विष्णु पुराण)

2. Chamber's Encyclopaedia· P. 337.

पैदा करने की सामर्थ्य नहीं रखता था ? यह देश, जो अतीत काल में उस समय के सभ्य देशों की अपेक्षा सबसे समुन्नत देश रहा, जिसने समस्त प्रकार के ज्ञान-विज्ञान, कला-शिल्प के प्रवर्त्तक, धर्म व दर्शन के विश्व-विख्यात आचार्य एवं पराक्रमी योद्धा पैदा किये, क्या केवल विदेश-यात्री ही पैदा नहीं कर सका ?

ज़रा विचार कीजिये कि यदि भारत कोई विदेश-यात्री पैदा न कर सका होता, तो इसकी अपूर्व प्राचीन सभ्यता-संस्कृति के नाना निदर्शन विश्व के कोने-कोने में आज क्योंकर पाये जाते ? इसके गौरव की गाथाएँ विदेशों के पर्वतों के वक्षस्थलों, गिरि-गुफाओं के सीनों एवं पुराने खंडहरों की ईटों पर कैसे अंकित मिलतीं ? विदेशों में कहीं प्राचीन ध्वंस-स्तूपों के नीचे, कहीं मरुभूमि के बालुका-टीलों के अंतराल में भारतीय भाषाओं—संस्कृत, पाली, प्राकृत—के ग्रंथों तथा उनकी स्थानीय भाषाओं में अनुवादित पुस्तकों का भण्डार, भास्कर्य, चित्र-कला, और मूर्ति-कला के नाना निदर्शन किस तरह प्राप्त होते ?

सच तो यह है कि अति प्राचीन काल ही से भारत के व्यापारियों और संस्कृति-दूतों या विदेश-यात्रियों ने दूर-दूर के देशों में जाना-आना आरम्भ कर दिया था। संसार का कोई ऐसा कोना नहीं रह गया था, जहाँ वे नहीं पहुँच गये थे और जहाँ उन्होंने अपनी बस्तियाँ नहीं बसा डाली थीं।

संसार के इस 'अनूठे देश' के वे विदेश-यात्री—वे संस्कृत-दूत—भी बहुत ही अनूठे थे। संसार के दूसरे देशों ने बेशक बहुत साहसी यात्री पैदा किये हैं, परन्तु वे भारतीय यात्रियों से यात्री पैदा नहीं कर सके। विदेश के जिन यात्राभियानों का विवरण हमें मिलता है, उनका उद्देश्य किसी न किसी निजी अथवा राजकीय पार्थिव स्वार्थ से लिपटा हुआ था। उन यात्रियों ने दूसरे देशों से मूल्यवान पदार्थों, धन, रत्न आदि का संग्रह करके अपने देश में ले जाने, अपने राजा के साम्राज्य का विस्तार करने के उद्देश्य से नये-नये देशों की खोज का लिए सामरिक शस्त्रास्त्र से लैस होकर यात्राएं कीं। कई यात्री तो सोने की चिड़िया भारत की वि चित्र

महिमामयी गाथाएं सुनकर इसकी खोज के लिए यात्रा पर निकल पड़े थे। वे यात्री जहाँ भी पहुंचे वहाँ उन्होंने अपना प्रभुत्व जमाया, आदिवासियों को गुलाम बनाया, खून खराबे और लूट-खसोट से भी संकोच न किया।

ये सब-कुछ तो किया ही, इसके साथ उन्होंने अपनी प्रसिद्धि, प्रशंसा, यश, कीर्ति का ढोल पीटने और अपने कारनामों के महत्त्व को उजागर करने के लिये अपने-अपने यात्राभियान के विवरण अथवा आत्म-कथाएं भी लिख-लिखवा डालीं। इससे जहाँ संसार को कतिपय भौगोलिक जानकारी प्राप्त हुई, वहाँ स्वयं उन्हें अपने नाम को यात्रा-साहित्य एवं इतिहास में जीवित रखने के लिये अच्छा सहारा भी मिल गया।

परन्तु प्राचीन भारत के यात्रियों ने विशुद्ध परमार्थ, लोक-कल्याण और ज्ञान-प्रसार की उच्च भावना से प्रेरित होकर विदेशों की यात्राएँ कीं। वे जिस भी देश में गये, उसका कण-कण नयी मँगलमयी संस्कृति और सभ्यता के आलोक से जगमगा उठा। चारों ओर नयी चेतना का प्रवाह बह निकला। स्थान-स्थान पर ज्ञान-विज्ञान के सोते उफन पड़े। शाश्वत साहित्य-सृष्टि नये अध्यायों से रंजित हो गयी। कला, शिल्प के दामन पर नयी आकर्षक गुलकारियां उभरने लगीं। सारांश यह कि उस देश के जन-जीवन का सम्पूर्ण रंगमंच सर्वतोमुखी अभ्युदय-क्रांति की अभिनय-शोभा से परिपूर्ण हो गया।

उन अनूठे भारतीय विदेश-यात्रियों ने सांसारिक भोग-विलास, धन-सम्पत्ति को ठुकरा दिया, राज-पाट तक त्याग कर फ़क़ीरी से लौ लगा ली, स्वयं नाना विपत्तियों को गले का हार बना लिया, परन्तु जिन देशों में वे गये वहाँ मानव-मात्र के सुख एवं अभ्युत्थान के लिये अपने जीवन तक को न्योछावर कर दिया। उनका मस्तिष्क ज्ञान का स्रोत था, बुद्धि सर्व-विषय-पारंगत थी और लेखनी में थी विलक्षण क्षमता। उन्होंने इनकी सहायता से अनेक पुस्तकें लिखीं, वहाँ के साहित्य-भण्डार को नाना अमूल्य रत्नों से भर दिया, परन्तु अपने बलिदान-पूत जीवन-वृत्त, जोखिम भरी यात्राओं एवं कठिन तप-साधना के विषय में एक अक्षर तक न लिखा।

उनकी समुज्ज्वल प्रकृति को आत्म-प्रशंसा, स्वार्थ-सिद्धि, यश-लोलुपता की धूलि स्पर्श नहीं कर पायी थी। उन्हें इन मायावी क्षणभंगुर चीजों की आवश्यकता नहीं थी। फिर वे किस बात से प्रेरित होकर अपने जीवन की गाथा लिखने बैठ जाते ? इसके साथ ही, मालूम होता है कि उस ज़माने के लेखकों पर आज की भाँति हर, किसी के जीवन-चरित, अभिनन्दन-ग्रंथ या आत्मकथा लिखने का जुनून सवार नहीं था; इसलिये उन महान् संस्कृति-दूतों, परमत्यागी विदेश-यात्रियों के जीवन-वृत्त एवं विदेश-यात्राओं के विवरण से भारतीय साहित्य शून्य पड़ा है।

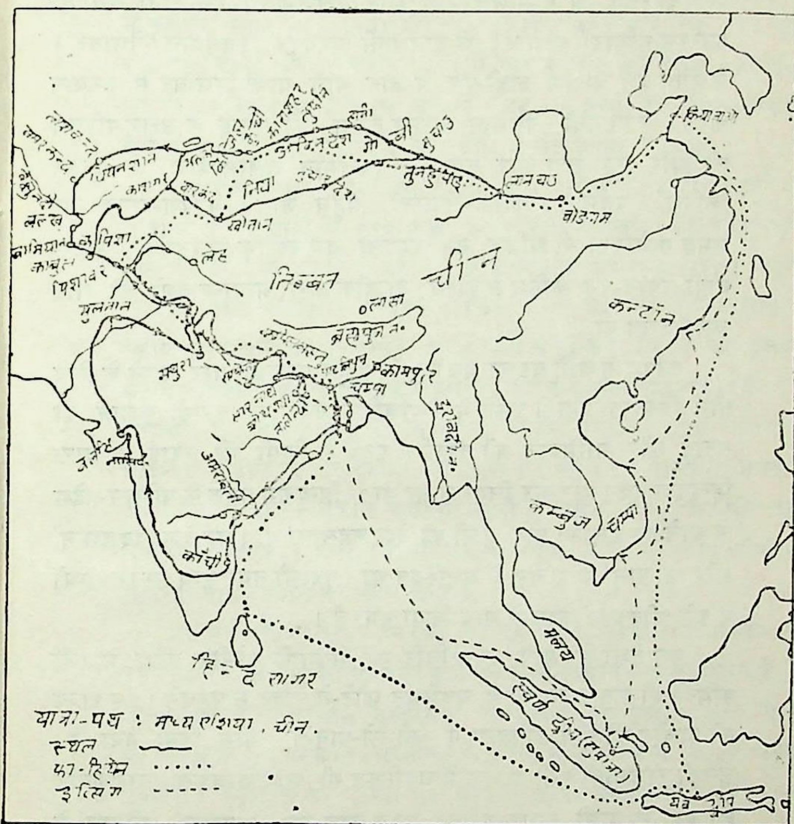
परन्तु वे संस्कृति-दूत जिस-जिस देश में गये वहाँ के साहित्यकारों ने अपने साहित्य में उनके जीवन-चरित के छुटपुट विवरण प्रस्तुत किये। उन्हीं छुटपुट विवरणों के आधार पर कुछ भारतीय यात्रियों के जीवन-चरित संग्रह करके इस पुस्तक में प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

बौद्धकाल से पहले भी वैदिक युग, रामायण एवं महाभारत-काल में भारतीय व्यापारी, विद्वान मनीषी तथा पराक्रमी विजेता विदेशों में गये अवश्य थे, परन्तु उनके विषय में कहीं भी व्यक्तिगत रूप से क्रमबद्ध या छुट-पुट विवरण नहीं मिलते। इसलिए उन युगों के विदेश-यात्रियों के जीवन-वृत्त के संग्रह करने का कोई उपाय नहीं; लेकिन इस बात के सिद्ध करने के लिये पर्याप्त सामग्री मिल सकती है कि उन युगों में भारतीय लोग संसार के कोने-कोने में अपनी संस्कृति का झंडा लेकर पहुंचे थे और उन्होंने वहाँ शक्तिशाली संस्कृति एवं उपनिवेशों की स्थापना की थी। अस्तु, उस सामग्री का संग्रह व सम्पादन करके मैंने उसे एक अलग पुस्तक 'विश्व-व्यापी भारत' के रूप में प्रस्तुत किया है।

पथ और जोखिम के जाल

बौद्ध काल में भारतीय यात्री केवल स्थल-पथ ही से नहीं, समुद्र-पथ से भी विदेशों की यात्रा किया करते थे। उन्होंने पूर्व व दक्षिण-पूर्व-एशियायी देशों, द्वीप-पुजों की यात्रा तो समुद्र-पथ से और मध्य एशिया,

चीन, तिब्बत आदि देशों की यात्रा स्थल-पथ से की। उस ज़माने में इन दोनों प्रकार के पथों से यात्रा करना कोई बच्चों का खेल नहीं था। इन रास्तों में कदम-कदम पर जोखिम के जाल बिछे थे, यह कहना



अतिशयोक्ति नहीं है आज यातायात के जो सुविधाजनक साधन एवं यात्रा सम्बन्धी विश्वस्त शासन-प्रबन्ध हमें प्राप्त है, तब नहीं थे। समुद्र-यात्रा थी या स्थल-यात्रा दोनों में अनन्त नैसर्गिक खतरों के अतिरिक्त मनुष्य

उनकी समुज्ज्वल प्रकृति को आत्म-प्रशंसा, स्वार्थ-सिद्धि, यश-लोलुपता की धूलि स्पर्श नहीं कर पायी थी। उन्हें इन मायावी क्षणभंगुर चीजों की आवश्यकता नहीं थी। फिर वे किस बात से प्रेरित होकर अपने जीवन की गाथा लिखने बैठ जाते? इसके साथ ही, मालूम होता है कि उस ज़माने के लेखकों पर आज की भाँति हर, किसी के जीवन-चरित, अभिनन्दन-ग्रंथ या आत्मकथा लिखने का जुनून सवार नहीं था; इसलिये उन महान् संस्कृति-दूतों, परमत्यागी विदेश-यात्रियों के जीवन-वृत्त एवं विदेश-यात्राओं के विवरण से भारतीय साहित्य शून्य पड़ा है।

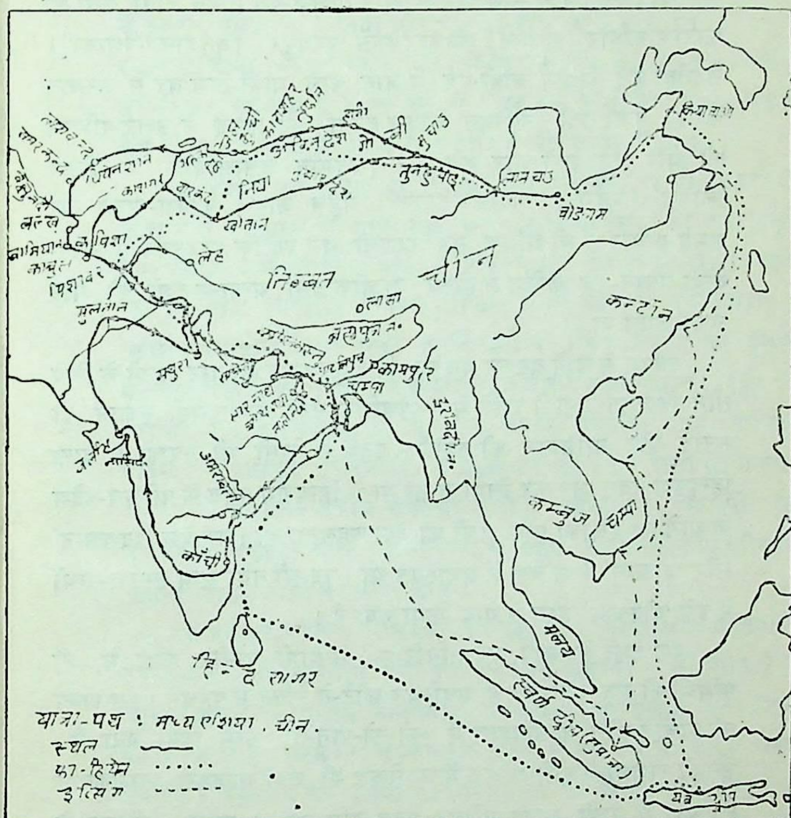
परन्तु वे संस्कृति-दूत जिस-जिस देश में गये वहाँ के साहित्यकारों ने अपने साहित्य में उनके जीवन-चरित के छुटपुट विवरण प्रस्तुत किये। उन्हीं छुटपुट विवरणों के आधार पर कुछ भारतीय यात्रियों के जीवन-चरित संग्रह करके इस पुस्तक में प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

बौद्धकाल से पहले भी वैदिक युग, रामायण एवं महाभारत-काल में भारतीय व्यापारी, विद्वान मनीषी तथा पराक्रमी विजेता विदेशों में गये अवश्य थे, परन्तु उनके विषय में कहीं भी व्यक्तिगत रूप से क्रमबद्ध या छुट-पुट विवरण नहीं मिलते। इसलिए उन युगों के विदेश-यात्रियों के जीवन-वृत्त के संग्रह करने का कोई उपाय नहीं; लेकिन इस बात के सिद्ध करने के लिये पर्याप्त सामग्री मिल सकती है कि उन युगों में भारतीय लोग संसार के कोने-कोने में अपनी संस्कृति का झंडा लेकर पहुंचे थे और उन्होंने वहाँ शक्तिशाली संस्कृति एवं उपनिवेशों की स्थापना की थी। अस्तु, उस सामग्री का संग्रह व सम्पादन करके मैंने उसे एक अलग पुस्तक 'विश्व-व्यापी भारत' के रूप में प्रस्तुत किया है।

पथ और जोखिम के जाल

बौद्ध काल में भारतीय यात्री केवल स्थल-पथ ही से नहीं, समुद्र-पथ से भी विदेशों की यात्रा किया करते थे। उन्होंने पूर्व व दक्षिण-पूर्व-एशियायी देशों, द्वीप-पुजों की यात्रा तो समुद्र-पथ से और मध्य एशिया,

चीन, तिब्बत आदि देशों की यात्रा स्थल-पथ से की। उस ज़माने में इन दोनों प्रकार के पथों से यात्रा करना कोई बच्चों का खेल नहीं था। इन रास्तों में कदम-कदम पर जोखिम के जाल बिछे थे, यह कहना



अतिशयोक्ति नहीं है आज यातायात के जो सुविधाजनक साधन एवं यात्रा सम्बन्धी विश्वस्त शासन-प्रबन्ध हमें प्राप्त है, तब नहीं थे। समुद्र-यात्रा थी या स्थल-यात्रा दोनों में अनन्त नैसर्गिक खतरों के अतिरिक्त मनुष्य

द्वारा पैदा किये हुए अनेक विपत्ति-विघ्नों—लूट-पाट, मार-धाड़, कत्ल-गारत इत्यादि—का भी सामना करना पड़ता था।

दक्षिण-पथ : भारत की सीमा से एशिया और चीन तक जाने के लिए दो स्थल-पथ थे—उत्तर-पथ और दक्षिण-पथ। इन दोनों पथों का आरम्भ गांधार (कन्धार) की राजधानी 'पुरुषपुर' (वर्तमान 'पिशावर') से होता है। दक्षिण वाही-पथ से जाने वाले यात्री पिशावर से प्रस्थान करते। कुभा नदी (वर्तमान काबुल दरया) की तराई के उत्तर-पश्चिम की ओर चल पड़ते और नगरहार (वर्तमान जलालाबाद) से होकर 'कपिश' (वर्तमान 'काफ़िरसितान') पहुँच जाते। कपिश-राज्य उस समय गांधार से भी अधिक समृद्धिशाली था' क्योंकि भारतवर्ष से उत्तर-वाही प्रधान-पथ कपिश से होकर बाह्लीक तथा अन्यान्य देशों की ओर चला जाता था।

कपिश से आगे बढ़कर दुर्लंघ्य हिन्दुकुश-पर्वत को पार करने के लिये तीन विख्यात पहाड़ी रास्ते थे—पांचशिर नदी की तराई, कुशान की तराई और बामियान की तराई। इनमें से किसी भी तराई के द्वारा हिन्दुकुश पर्वत पार कर लिया जाता था। हिन्दुकुश पर्वत के पश्चिम-प्रदेश के आगे का इलाका प्रायः हूणों का देश कहलाता था। यह देश 'बदखशान' और 'वाखान्' के अंचल में अवस्थित था। पुराणों तथा अन्य संस्कृत-ग्रन्थों में इसे 'वोक्कान' नाम से याद किया गया है।

हूण देशों के आगे दुर्गम गिरि-पथ से यात्री पामीर प्रदेश में, जो पृथिवी की छत कहलाता है, अवस्थित छोटे-से राज्य में पहुँचते। इस राज्य को प्राचीन चीन के इतिहास में 'को-लो-पान-तो' नाम दिया गया है। उसकी राजधानी इसी अंचल में अवस्थित थी, जहाँ आजकल 'ताशकुर्गान है। यहाँ से यात्री तुषार-मण्डित पर्वत लांघ कर 'यारकन्द' 'खोतान' से होते हुए 'निया' पहुँच जाते। 'निया' से 'मिरान' होते हुए यात्री चीन साम्राज्य के प्रवेश-द्वार—'इउ-मेन-कोयान' नामक पहाड़ी पगडण्डी पर जा खड़े होते और उसके निकट अवस्थित 'तुन-हो-याङ' के प्रधान बौद्ध

विहार में कुछ समय विश्राम करके चीन देश के भीतर चले जाते। 'तुन-हो-याङ' दक्षिण-वाही और उत्तर-वाही दोनों पथों का संगम-स्थल था।

'निया' से 'तुन-हो-याङ' की ओर जाते समय यात्रियों को मरुभूमि से गुजरना पड़ता था। निया और 'तुन-हो-याङ' के बीच के इस रास्ते पर अवस्थित नाना प्रदेश प्राचीन काल में खूब आबाद थे, परन्तु ७०० ई० तक वे सब मरुभूमि में बदल चुके थे। वहाँ के लोगों को अपना-अपना देश छोड़ कर मध्य एशिया के अन्य देशों में चले जाना पड़ा था।

उत्तरवाही पथ : इस पथ से जाने वाले भारतीय यात्री पुरुषपुर से कुभा नदी के किनारे के साथ-साथ चलते उत्तर-पश्चिम की ओर बढ़ते हुए कपिश देश में पहुँचते। वहाँ से पश्चिम-मुखी गिरिपथ द्वारा पहले 'फु-खिया-ला' (बाह्लीक—बलख) फिर 'पो-तो-छान्-ना' (बदख़शान), 'कोलो-पान-तो' (ताशकुर्गान) आदि देशों से हो कर पामीर की दुर्लंघ्य पहाड़ी पगडण्डी पर चलते-चलते 'शो-लेइ' (शैल-देश या काशगर) पहुँचते। काशगर से दक्षिण-पर्वतवाही पथ पर न जाकर 'थियेन शान' पर्वत के पाद-देश से होते हुए उत्तरवाही-पथ ग्रहण कर लेते। इस रास्ते से 'भरुक', 'किज़िल', कुचार (प्राचीन कुचा या कुची), 'अग्नि-देश', 'का-ओ-छाङ' (वर्तमान 'तुर्फान) आदि स्थानों का अतिक्रम करके चीन के सीमान्त 'तुन-हो-याङ' स्थान पर पहुंच जाते।

इस पथ पर अवस्थित 'भरुक' का यह प्रकृत नाम मध्य एशिया से उपलब्ध संस्कृत-पुस्तकों में पाया गया है इससे विद्वानों का अनुमान है कि 'भरुक' भारत की प्राचीन बन्दरगाह 'भरुकच्छ' (भृगुकच्छ) के नाम ही का अपभ्रंश है। सम्भवतः भरुकच्छ के लोगों ने उस देश में जाकर अपना उपनिवेश स्थापित कर लिया था और नाम रख दिया था 'भरुक'। इस पथ के दूसरे स्थल 'अग्निदेश' का यह नाम भी प्रकृत पुरातन नाम है। इस बात का पता मध्यएशिया से प्राप्त अनेक संस्कृत पुस्तकों से चलता है। इसके अतिरिक्त प्राचीन चीनी इतिहास में इस इलाके को 'इयेन-कि' या 'अ-कि-नि' नाम दिया गया है। ये नाम भी 'अग्नि' शब्द ही के रूपान्तर हैं।

इस अग्निदेश की प्रान्त-भूमि से मरुस्थल का आरम्भ हो जाता है। यह मरुस्थल विस्तृत गोबी-मरुभूमि का विशेष अंश है। इसे पार करके ही यात्री चीन के सीमान्त-स्थान—'तुन-हो-याङ'—पर पहुँचते थे।

कई यात्री बदखशान से काशगर की ओर न जाकर 'आमु-दरया' (प्राचीन वक्षु नदी) और थियेनशान पर्वत पार करके ताशकन्द एवं समरकन्द से होकर उत्तरवाही पथ पर अवस्थित 'भरुक' शहर जा डेरे डालते थे। फिर वहाँ से इसी उत्तरवाही पथ से 'तुन-हो-याङ' पहुँच जाते थे। 'ह्यून साँग' ने ७ वीं शताब्दी में इसी मार्ग से भारत के लिये यात्रा की थी।

इस मार्ग के अतिरिक्त कई यात्री सिन्धु नदी की उपत्यका (वर्तमान पाकिस्तान के सिन्ध दरया की वादी) से चलकर 'बदखशान्' की ओर न जाकर 'गिलगित' एवं 'दरद' या वर्तमान दारेल की तराइयों से गुज़रते और पामीर-पर्वत-शृंखला को लांघकर खोतान' जा डेरा डालते और वहाँ से मरुभूमि पार करके सीधे अग्निदेश पहुँच जाते तथा उत्तर-वाही-पथ पर चलते-चलते चीन की सीमा को जा लेते। चीनी यात्री 'फा-हीयेन' इसी मार्ग से भारत आया था।

जलते हुए मरुस्थल : इन सब स्थल-पथों के यात्रियों को नाना नदियाँ नाले, पर्वत-घाटियाँ और मरुस्थल आदि पार करने पड़ते थे। यह कोई सुगम नहीं थे। अत्यन्त दुर्लंघ्य और खतरनाक थे। जो चीनी यात्री इन मार्गों से भारत पहुँचे, उनमें से प्रायः कोई भी यात्री अपने पूरे साथियों के साथ भारत में प्रवेश न कर सका। उनके कई साथी रास्ते ही में नाना कष्टों के कारण प्राण गँवा बैठे और कई यात्रा की यातनाओं की ताव न ला कर वापस लौट् गये।

मरुभूमि की यात्रा कितनी खतरनाक थी, इसका कुछ अनुमान 'फा-हियेन' के अपने यात्रा-वर्णन से हो सकता है। भारत आने के लिये वह अग्निदेश (वर्तमान काराशर) से मरुभूमि लांघकर सीधा खोतान पहुँचा था। उसने लिखा है, "इस भूमि-भाग में मनुष्य का कहीं नामोनिशान

नहीं मिलता। इस रास्ते में पड़ने वाली नदियों और मरुभूमि का पार करना कितना दुःसाध्य है, यह बात शब्दों में व्यक्त नहीं की जा सकती। यह छोटा-सा रास्ता तय करके खोतान पहुँचने में पंतीस दिन लग गये थे।"

मध्य एशिया से चीन की ओर जाते हुए जिस गोबी मरुभूमि को पार करना पड़ता था, वह भी अत्यन्त विपत्ति-संकुल थी। इस विषय में 'ह्यू न-सांग के दिये हुए विवरण का सारभाव यह है—"वह स्थल एकदम निर्जन तो है ही, इस पर सितम यह है कि पीने को पानी की बूँद तक नसीब नहीं होती। छायावन्त वृक्ष तो क्या हरियाली के तिनके की सूरत दिखाई नहीं देती। चारों ओर बालुका सागर ही फैला हुआ नज़र आता है। इस सागर का तूफान या विक्षुब्ध बालुका लहरें जलधि की लहरों से कहीं मारात्मक हैं। वायु के प्रबल वेग से सर्वत्र ही मरुभूमि की रेत के भीषण बवण्डर-बगूले आकाश की ओर उठा करते हैं। सारे स्थल पर बालुका-बादल छा जाते हैं और पथिक को रास्ता सुझाई देना बन्द हो जाता है। रेत के रेले दानवी वेग से इधर से उधर चलते रहते हैं और रास्ते के चिह्नों को दम-ब-दम मलिया-मेट कर देते हैं। अतः रास्ते के स्थायी चिह्न कहीं भी बनने नहीं पाते। फलस्वरूप बेचारे पथिक रास्ते से भटक कर नाना परेशानियाँ और जोखिम उठाते हैं।

"इस मरुभूमि में प्रायः आग सी बरसती है अर्थात् लूके लगाने वाली उत्तप्त वायु ऐसी दानव-गति से चलती है कि पथिक और गाड़ी के आगे जुते हुए जन्तु थोड़े ही समय में दम तोड़ कर धराशायी हो जाते हैं। संभवतः ऐसे ही धराशायी पथिकों और यान-वाही जन्तुओं के कंकालों की सहायता से बाद के पथिक अपने रास्ते का निशान ढूंड पाते हैं। इस दानव-गति वायु की शाँ-शाँ आवाज़ प्रेत-लोक की हताश क्रन्दन -ध्वनि की भाँति पथिक के चित्त में गहरे भय और अवसाद का संचार कर देती है।"

यह तो हालत थी उन दिनों मरुभूमि की यात्रा की। अब ज़रा पर्वतीय प्रदेशों की यात्रा-विभीषिका की झलक देखिये।

जानलेवा चढ़ाई हाड़ चीरने वाली सर्दी : कपिश देश से तीन पहाड़ी रास्ते वाह्लीक (बल्ख या वक्ट्रिया) को जाते थे। एक रास्ते—बामियान—का उल्लेख पहले हो चुका है। यह प्रदेश महा हिमगिरि (हिन्दुकुश) में 'गज' से दक्षिण पश्चिम में ऊँचे पर्वतों तथा गहरी खड्डों का प्रदेश है। गर्मी के मौसिम में भी सर्दी कचोंके लगाती रहती है। ग्रांधी ग्रौर हिमपात—एक के बाद दूसरे का ग्रभियान चलता ही रहता है। ये नैसर्गिक मुसीबतें तो थीं ही यात्रियों के लिये, इसपर दिन दिहाड़े लुटेरे दलों की खरमस्तियों का बाजार भी गर्म रहता था। उन दलों का पेशा लूट-पाट के साथ नर-हत्या भी था।

बामियान से कई पहाड़ी रास्ते हैं, जिनके द्वारा हिन्दुकुश पर्वत पार करना पड़ता था। इस पर्वत ग्रौर पामीर-उपत्यका ग्रादि पहाड़ी देश की यात्रा कितनी दुःसाध्य थी, इसका ग्रनुमान निम्नलिखित विवरण से हो सकता है—

पामीर को उसकी ऊँचाई (लगभग १६-१८ हजार फुट) के कारण पृथिवी की छत कहा जाता हैं। यहाँ से हिमालय, कुनलुन, कराकोरम, सुलेमान, हिन्दुकुश, पारोपामिसस ग्रादि पर्वत-श्रेणियाँ प्रायः चारो ग्रोर फैली हुई हैं। पामीर के विषय में लोगों को ग्रधिक जानकारी नहीं है, क्योंकि वहाँ पहुँचने का रास्ता ग्रत्यन्त कठिन है। वहाँ के सब पर्वत बर्फ से ढके रहते हैं। इसीलिये पग-पग पर विपत्ति का सामना करना पड़ता है। पथिक के पांव के नीचे से किस समय बर्फ का तोदा खिसक कर उसे मृत्यु के मुँह में धकेल देगा, इस बात की ग्राशंका हर समय हृदय को कुरेदती है। फिर बर्फ की जो ग्राँधी चलती है, उसकी लपेट में ग्राकर मनुष्य का जीवन से हाथ धो बैठना भी कोई ग्रसंभव नहीं।

भारतवर्ष से इस पृथिवी-छाद पर पहुँचने के लिये श्रीनगर से गिलगित का पथ ग्रहण करके एकदम सीधे खड़े पर्वतों की चढ़ाई करनी पड़ती है। इस पर गजब यह है कि उन पहाड़ों के पत्थर ऐसे विरल भाव से गठित हैं कि पाँव के नीचे से किसी पत्थर के ज़रा हिल जाने से ग्रारोही

कलाबाज़ियाँ खाता हुआ नीचे की ओर लुढ़क जाता है और प्रायः जान पर खेल जाता है।

इस उपत्यका में वसन्त और गर्मी के मौसिम में भी हड्डियों को चीर डालने वाली भयंकर वायु तथा बर्फानी तूफान चलते हैं। मिट्टी नमकीन हैं और कंकरीली है। खेती-बाड़ी नहीं होती। निर्जनता पथिक के हृदय को अवसाद और आतंक की छुरी से रेतने लगती है। यहाँ किसी स्थायी संस्कृति का निशान नहीं मिलता।

सिन्धु-वादी से गिलगित नदी की तराई के रास्ते बदख़शान् पहुँच कर आगे पामीर पार करके खोतान तक पहुँचने के पथ की विकटता का वर्णन पाली बौद्ध साहित्य तथा अन्य कई संस्कृत-ग्रंथों में पाया जाता है। पाली बौद्ध साहित्य में इस पथ के विभिन्न अंशों को विभिन्न नाम दिये गये हैं, जैसे—'जन्नु-पथ', 'अजपथ', 'मेण्ट-पथ', वंश-पथ', 'मुषिक-पथ', शकुन पथ 'दरिपथ', 'शंकु-पथ', 'वेत्र-पथ', इत्यादि। जन्नुपथ का अतिक्रम जानुओं [घुटनों] के बल चलकर किया जाता था। अज-पथ और मेण्टपथ उन्हें कहा जाता था, जिन्हें केवल छागल और मेंढे ही लाँघ सकते थे। वंश-पथ बाँस के पुल द्वारा पार किया जाता था। 'दरि' शब्द का अर्थ गुहा या गुफा है। संभवतः इस मार्ग से गुफाओं में से गुजरना पड़ता होगा। अन्य पथांशों के नामों का भी कोई न कोई अलग महत्त्व होगा। याद रहे कि उन दिनों पहाड़ी नदियों को प्रायः रस्सियों के झूलने वाले पुलों [Suspension bridge of ropes] के द्वारा पार किया जाता था।

विद्वानों का कहना है कि संभवतः इसी पथ का उल्लेख वाल्मीकि रामायण के किष्कन्धा काण्ड में भी किया गया है—"उस देश में शैलोदा नदी पार करने के लिये उस पार का कीचक जब वायु में नीचे उतर पड़ता है, तब उस कीचक का अग्र भाग ग्रहण करके पार उतरा जाता है।"[1]

---

१. तं तु देशमतिक्रम्य शैलोदा नाम निम्नगा।
उभयोस्तीरयोस्तस्याः कीचका नाम वेणवः॥

इस प्रकार के अति दुर्गम, खतरनाक और हज़ारों मील लम्बे स्थल-पथ को पैदल एवं जल-पोतों द्वारा सागर-पथ लांघ कर जो भारतीय यात्रिक संस्कृति दूत दूर-दूर के देशों में गये थे, उन्हीं के जीवन-चरित इस पुस्तक में प्रस्तुत किये गये हैं। वे बौद्धकालीन होने के कारण प्रायः बौद्ध भिक्षु थे। परन्तु उनके द्वारा विदेशों में केवलमात्र बौद्ध धर्ममत या संस्कृति ही का नहीं, प्रत्युत सम्पूर्ण भारतीय संस्कृतिका प्रसार हुआ था। कारण, एक तो बौद्ध-संस्कृति या धर्म-मत भारत के सुप्राचीन धर्म मत या संस्कृति से विभिन्न नहीं था, अपितु उसी का एक अंग-विशेष था। फिर उस युग में केवल बौद्ध परिव्राजक ही नहीं अन्य धर्मावलम्वी भारतीय परिव्राजक भी विदेशों में गये थे, परन्तु उनके जीवन-चरित का वर्णन कहीं उपलब्ध नहीं है। उन परिव्राजकों में संगीतज्ञ, नृत्यकार, ज्योतिर्विद, आयुर्वेदाचार्य आदि अनेक मनीषी थे। उनमें से जिन दो-चार के नामों का पता चला है, उनके जीवन के विषय में जितनी कुछ जानकारी मिली है, प्रस्तुत कर दी गयी है।

श्रीकृष्णलीला, कालीय दमन और शिव-लिंग के चित्र

अभी पिछले वर्ष (फरवरी १९७० ई०) नई दिल्ली विज्ञान-भवन में 'इण्टरनेशनल कांफ्रेंस ऑन सण्ट्रल एशिया' (मध्य एशिया विषयक अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलन) हुआ था। उस सम्मेलन में 'नेशनल म्यूज़ियम के श्री आर० सी० अग्रवाल ने भाषण करते हुए चीनी तुर्किस्तान में अवस्थित खोतान के निकटवर्त्ती एक स्थान से प्राप्त प्राचीन निदर्शनों की चर्चा की। उन्होंने बताया कि उस स्थान से बर्तनों के जो टुकड़े मिले हैं, उन पर श्रीकृष्णलीला के दृश्य अंकित हैं। एक टुकड़े पर, जो लेलिनग्राड-म्यूजियम में सुरक्षित है, श्रीकृष्ण को सासानी वेष में लम्बा-चोग़ा और बूट पहने हुए दिखाया गया है। इस सम्मेलन में श्री पी० बैनर्जी ने अपना

सा न शक्या तरीतुं हि नदी परमदुर्गमा।
ते नयन्ति परं तीरं सिद्धान् प्रत्यानयन्ति च॥

एक लेख मध्य एशिया के 'दाँदन उलीक' से प्राप्त एक दीवार-चित्र के विषय में पढ़ा। उन्होंने बताया, 'इस चित्र में लक्ष्मी और यक्षणी हरिती के सम्मिलित चरित्र का चित्रण किया गया है।'

इसी प्रकार चीन में भी ब्राह्मण्य संस्कृति के प्रभाव के चिह्न मिलते हैं। उदाहरणार्थ--दक्षिण-चीन के समुद्र-तट पर 'चुआन-चौ' नामक एक अच्छी-खासी बन्दरगाह थी। इस बन्दरगाह का उल्लेख विदेशी लोग 'जायतोन' नाम से करते थे। जैसे, ईसा की तेरहवीं शताब्दी में मार्कोपोलो ने इस बन्दरगाह के विषयमें लिखा था—"यह शहर जायतोन-क्षेत्र का स्वर्ग है, जहाँ सब प्रकार के भारतीय वाणिज्य-पोत गर्म मसालों तथा अन्य प्रकार के बहुमूल्य पदार्थों से लदे हुए लगातार आ कर लंगर-अन्दाज़ होते रहते हैं।"

यहाँ ईसा की दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी के दो विशाल बौद्ध मन्दिर हैं। एक मन्दिर के एक स्तम्भ पर हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियां खुदी हुई हैं। एक मूर्ति-चित्र 'कालीय दमन' का दृश्य पेश करता है। नाग असख्य फणों को फैला कर श्रीकृष्ण को घेरे हुए हैं। श्रीकृष्ण उनके ऊपर खड़े वंसी बजा रहे हैं। श्रीकृष्ण की दोनों ओर विष्णु के प्रतीक शंख और चक्र के चिह्न हैं। दूसरा चित्र नरसिंह मूर्त्ति का है। कृष्ण नरसिंह मूर्ति में हिरण्यकशिपु का वध कर रहे हैं। एक और चित्र शिवलिंग का है। भक्त गाय शिवलिंग के ऊपर अपने स्तनों से दूध डाल रही है और चाट-चाट कर लिंग मूर्त्ति को साफ कर रही है। स्तंभ के नीचे के भाग पर एक अद्भुत जंतु की मूर्ति खुदी हुई है। इस प्रकार की मूर्ति सिंहल में 'पोलोन्नावुरम्' नामक स्थान पर हिन्दू मन्दिर में देखी गई है। जायतोन के मन्दिर के प्रांगण में और भी कई प्रस्तर-लिंग-मूर्तियाँ पायी गयी हैं। इन सब चित्रों की रचना-पद्धति से मालूम होता है कि ये भारतीय शिल्पियों की कृतियाँ हैं।

इस मन्दिर में खुदे हुए अन्य बौद्ध-चित्रों एवं स्तम्भों के साथ इस स्तम्भ का कोई सादृश्य नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि किसी हिन्दू-

मन्दिर के खंडहरों से यह स्तम्भ लाया गया था या पहले के हिन्दू-मन्दिर के ध्वंस अवशेषों पर यह बौद्ध मन्दिर बनाया गया होगा। कुछ भी हो, इन निदर्शनों की मौजूदगी में यह विश्वास करना अनुचित नहीं होगा कि एक समय जायतोन में हिन्दुओं की कोई न कोई बस्ती अवश्य थी। इसके अतिरिक्त दक्षिण-चीन से कालिदास के संस्कृत काव्य-ग्रन्थ का मिलना और उस ग्रन्थ में मूर्ख कालिदास की कहानी का लिखा होना, चीनी साहित्य में प्रामाणिक हिन्दू ग्रंथों—वैशेषिक, सांख्य दर्शन, ज्योतिष और आयुर्वेद—के अनुवाद-ग्रन्थों का चीनी भाषा में मिलना इस बात को सिद्ध करता है कि मध्य एशिया एवं चीन आदि देशों में केवल बौद्ध भिक्षु ही नहीं अन्य अनेक अबौद्ध भारतीय भी जाया-आया करते थे।

वे भारतीय बौद्ध थे या अबौद्ध, सभी भारत माँ की सन्तान थे, सच्चे आर्य थे, अनन्य देश-भक्त थे। उन्होंने सारा जीवन बलिदानपूर्वक ज्ञानार्जन व ज्ञान-वितरण में खपा दिया था। उनका व्यक्तित्व—'असतो मा सद्-गमय', 'तमसो मा ज्योतिर्गमय',मृत्योर्मामृतं गमय'—दिव्य वाक्यों का मूर्त्तिमान् अर्थ-व्यंजक था। उन्होंने स्वयं अनन्त कष्ट उठाये, और मानव-मात्र के सच्चे सुख-शांति और अभ्युदय की राहें पैदा कीं। विदेशों में जाकर भारत की संस्कृति, सभ्यता और गौरव को चार चाँद लगाये। अपनी इस तुच्छ कृति के द्वारा उन विस्मृत मनीषियों की याद ताज़ा करने के प्रयास से मेरे मन को सन्तोष का जो उल्लास मिला है, वह शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। मुझे आशा है कि पाठक महोदय उन महापुरुषों की याद को हृदयंगम करके स्वस्थ, सशक्त, शाश्वत, सर्वतो-मुखी अभ्युदय-रंजित प्रेरणाओं के उल्लास से अपना जीवन भर लेंगे, तभी मेरे उल्लास को सार्थकता नसीब होगी।

—जगन्नाथ प्रभाकर

: १ :

कुमार लात

पामीर की उपत्यकाएं

—जहाँ की भूमि ऊबड़-खाबड़, मिट्टी नमकीन और कंकरीली—हरियाली से शून्य,

—जहाँ वसन्त और गर्मी के मौसिम में भी हाड़ चीरने वाली वायु तथा बर्फ़ानी तूफानों का ज़ोर,

—जहाँ का जलवायु मनुष्य को कभी स्थायी भाव से अपनी ओर खींच नहीं सका

—जहाँ के देशों में असभ्यता और अविद्या का घटाटोप अंधकार सदा छाया रहा तथा किसी भी समय कोई भी सभ्यता अपनी रश्मियों से उन्हें स्थायीरूप से आलोकित नहीं कर पाई थीं,—

उन्हीं उपत्यकाओं में पहुँच कर भारत के शास्त्र-वीर, संस्कृति-दूत कुमार लात ने आर्य-सभ्यता का झण्डा गाड़ा और ज्ञान के प्रकाश से उन्हें चिर काल तक जगमगा दिया। किन्तु खेद है कि उनके अपने जीवन-इतिहास पर आज तक एक दुर्भेद्य यवनिका पड़ी हुई है। यह यवनिका कभी पूर्णतः उठाई जा सकेगी और उनका देदीप्यमान जीवन-चरित संसार के सामने सांगोपांग प्रकाशित हो उठेगा, ऐसी आशा के साकार होने का कोई उपाय दिखायी नहीं देता। फिर भी इतिहास के

खोजियों ने उनके जीवन के विषय में थोड़े-से तथ्यों को ढूँढ़ निकाला है।

कुमार लात सौतान्त्रिक सम्प्रदाय के आचार्य थे। उनका जन्म सन् २०० ई० में तक्षशिला में हुआ था। उन्होंने छोटी ही आयु में अपना घर छोड़ दिया था और रमते साधु बन गये थे। यों कहिये कि प्राव्राज्य ले लिया था। विधाता से उन्होंने परम तीव्र सात्विक बुद्धि और निर्मल हृदय पाया था। उन्होंने अल्प समय ही में धर्मशास्त्रों में पारंगति प्राप्त कर ली थी और एक शास्त्रकार के रूप में दूर-दूर तक विख्यात हो गये थे।

उन्होंने स्वयं विदेश के परिभ्रमण का अभी इरादा नहीं किया था कि उन्हें वन्दी बनाकर पामीर के इलाके में ले जाया गया। उन दिनों वाह्लीक (बल्ख) देश से पश्चिम की ओर काशगर को एक रास्ता जाता था। उस रास्ते पर जो देश अवस्थित थे, उन सबके साथ भारतवर्ष का सम्बन्ध बना हुआ था। उन देशों में से वोक्कन (Wakhan) श्यामक (Shignan) और रमठ आदि देशों का उल्लेख भी भारतीय साहित्य में मिलता है। वे सब देश पामीर की नाना उपत्यकाओं में अवस्थित थे। उन उपत्यकाओं के लिये यातायात काश्मीर से होकर गिलगित के रास्ते से भी होता था।

उन उपत्यकाओं में प्राचीन काल में कोई सभ्यता विद्यमान थी, ऐसा कोई निदर्शन नहीं मिलता। वास्तव में वहाँ कभी कोई स्थायी सभ्यता अस्तितत्व में नहीं आई थी। विख्यात चीनी यात्री ह्यून-सांग ने इस इलाके का जो विवरण दिया है, उससे मालूम होता है कि श्यामक और काशगर के मध्य पामीर के अन्तर्गत कई जनपदों में बौद्ध मत फैला हुआ था। खो-फान-तो" (खावान्द) नामक जनपद का राजा बौद्ध धर्म के प्रचार में बहुत प्रयत्नशील रहता था। एक बौद्ध किंवदन्ती है कि इस

देश में लोगों ने बहुत पहले ही से बौद्ध-धर्म ग्रहण कर लिया था। यह बात सत्य भी हो सकती है, क्योंकि मौर्यवंशीय अशोक ने केवल युद्ध द्वारा अपने राज्य का विस्तार ही नहीं किया था, प्रत्युत त्यागपूर्वक प्रचार-अभियान द्वारा बौद्ध धर्म की विजय-पताका दूर दूर देशों तक लहरायी थी और अनेक स्तूप भी स्थापित किये थे।

उपर्युक्त देश में जब आर्य कुमार लात पहुँचे, तो उनकी विद्वत्ता और तेजस्विता से प्रभावित होकर राजा ने उनके लिये एक विहार बनवा दिया। कुमार लात का परवर्ती जीवन इसी देश में शास्त्रालोचना, शास्त्र रचना और धर्म प्रचार में व्यतीत हुआ। उनके इस महान् कार्य से जाने कितने लोगों को, जो अविद्या के अंधकार में भटक रहे थे, श्रेय-मार्ग का दर्शन हुआ, जाने कितने सांसारिक राग-द्वेष और कलह-क्लेश से संतप्त हृदयों को शान्ति मिली और जाने कितने मोह-माया के बन्धनों में जकड़े हुए आत्माओं को ज्ञान एवं मुक्ति प्राप्त हुई। कुमार लात को अपनी इस लोक-कल्याण व परमार्थ साधना के कारण बहुत समादर और पूजा का स्थान मिला तथा उनके निर्वाण के पश्चात् उनके निवास स्थान को एक विराट् विहार में परिणत कर दिया गया। इस विहार को ह्यु न सांग ने स्वयं देखा और इसके विषय में यथोचित चर्चा भी की।

○

: २ :

कुमारजीव

चीनी नाम Ciu-mo-Lo-Shi **सिउ-मो-लो-शी।**

'कुमार-जीव' एक संभ्रान्त ब्राह्मण-कुल के प्रदीप थे। उनका जीवन सचमुच एक दीपक के समान था। दीपक स्वयं तो तिल-तिल जलने का कष्ट सहता है, परन्तु दूसरों को आलोक-सुख प्रदान करता है। उसके, क्षण प्रति क्षण दग्ध होते हुए वर्त्तिका-प्राण अपनी नन्ही सी ज्योति-शिक्षा के द्वारा विशाल अंधकार-राजि को मिटा कर रख देते हैं। इसी प्रकार कुमार जीव आयुभर त्याग और तप की अग्नि में अपने आपको तो तपाते रहे, लेकिन जनमानव के संतप्त, अशान्त, विह्वल हृदयों को सुख और शान्ति पहुँचाते रहे। वे आजीवन एक अपूर्व ज्ञान-वर्त्तिका के रूप में जलते रहे और नाना देश-विदेश की कष्ट-साध्य यात्राएं करके अज्ञान व अविद्या के अंधकार को मिटाने में प्रयत्न-शील रहे।

उन में और दीपक में एक अन्तर अवश्य नजर आता है। दीपक जब बुझ जाता है या टूट जाता है, तो उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। उसकी ज्योति का अवसान हो जाता है। उसमें अंधकार के मिटाने की सामर्थ्य नहीं रहती। परन्तु कुमार जीव का देहावसान उनके अस्तित्व को मिटा न सका। उनका जीवन-दीप बुझ जाने से उनकी ज्योति का ह्रास न हुआ, बल्कि देहावसान के पश्चात् उनको अमरत्व प्राप्त हो गया।

उनकी फैलायी हुई ज्ञान-ज्योति सर्वत्र व्याप्त हो गयी, जो शताब्दियों से नाना क्रांति-ववण्डरों के मध्य आज तक कोटि-कोटि मानव- हृदय व मस्तिष्क के अज्ञान-अंधकार को मिटाती चली आ रही है और भविष्य में भी सदा मिटाती रहेगी।

वंश-परिचय

कुमार-जीव को अपनी इस अद्भुत प्रतिभा के मूलतत्त्व पैतृक धन के रूप में अपने माता-पिता से प्राप्त हुए थे। कुछ लोगों का कहना है कि उनके पूर्वज काश्मीर के अधिवासी थे।[1] कुछ विद्वान कहते हैं कि कुमारजीव के पितामह मगध के रहने वाले थे, जो 'खोतान' (मध्य एशिया) में जाकर बस गये थे।[2] उनके वंश का परिचय देते हुए श्री बागची महोदय लिखते हैं कि चौथी शताब्दी ईस्वी में भारतवर्ष के उत्तर पश्चिम सीमान्त में एक हिन्दूराज्य अवस्थित था। उस राज्य में एक ब्राह्मण परिवार रहता था, जिसे उन्नति की चरम सीमा प्राप्त थी। उस वंश के लोग वंशानुक्रम से राजा के गुरु और मन्त्री-पद पर प्रतिष्ठत होते चले आ रहे थे। विद्या और बुद्धि के मैदान में वे सदा सबसे आगे रहते थे। इसी लिये देश के सभी लोग उन्हें श्रद्धा और सम्मान की दृष्टि से देखते थे।

इस सर्वप्रिय कुलशील सम्पन्न वंश में कुमारायण ने जन्म लिया। कुमारायण बहुत मेधावी और विलक्षण-बुद्धि सिद्ध हुए और उन्होंने अपने वंश की परम्परा एवं मर्यादा को और भी चार चाँद लगा दिये। किन्तु भाग्य के चक्र ने एक दिन उन्हें अपना देश छोड़ देने पर विवश कर दिया। उनकी जाति के

---

१. श्री प्रबोध चन्द्र बागची।

२. श्री हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय'.

लोगों को उनकी दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती हुई प्रतिष्ठा एक आँख न भाती थी। उनकी अद्‌भुत प्रतिभा देखकर उन लोगों के सीने पर साँप लोट जाते थे। उन्होंने कुमारायण पर तरह-तरह के अत्याचार ढाने आरंभ कर दिये थे। साधु-स्वभाव कुमारायण उन लोगों के दुर्व्यवहार का उत्तर दुर्व्यवहार से नहीं देना चाहते थे। इसलिये उन्होंने स्वेच्छा से अपनी समस्त धन-सम्पत्ति का परित्याग कर दिया और बौद्ध भिक्षु बन गये। उन्होंने संसार के सुख-वैभव से नाता तोड़ लिया। उन दिनों बौद्ध-विनय के कठोर शासनानुसार प्रत्येक भिक्षु के लिये किसी एक स्थान पर अधिक दिन ठहरना निषिद्ध था। इसलिए भिक्षु का जीवन पर्यटक का जीवन था। कुमारायण ने इस कष्ट-साध्य जीवन को सहर्ष ग्रहण कर लिया।

कुमारायण अपने इस पर्यटनात्मक जीवन को भारत की सीमाओं में आबद्ध न रख सके। बाहर के देशों और भारत की सीमाओं के सन्धि-स्थल पर बहुत दिन खड़े रहकर उन्होंने देश-विदेश के सार्थवाहों का यातायात देखा था और विदेशों के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी प्राप्त कर रखी थी। इसीलिये उन का मन विदेशों की यात्रा के लिये उत्सुक रहता था। आखिर एक दिन वे कमर कस कर विदेश-यात्रा के लिये चल ही पड़े। एक अज्ञात पथ उन्होंने ग्रहण किया और नाना देशों से गुजरते हुए आगे बढ़ते चले गये। फिर उन्होंने हिमालय की तुषार-मण्डित चोटियों को पार किया और अन्त में मध्य-एशिया के कुची-राज्य में पहुँच गये।

उन दिनों कुची राज्य की उन्नति का सुनहला युग था। उसकी राजधानी एक विशाल नगर था, वाणिज्य-व्यापार, धन-ऐश्वर्य में मध्य एशिया का अन्य कोई स्थान उसकी बराबरी नहीं कर सकता था। वहाँ के लोग शिक्षा-दीक्षा और सभ्यता में

सबसे आगे थे। भारतीय बौद्ध-धर्म उनका धर्म था और संस्कृत थी उनकी देव-भाषा। इस राजधानी में भारतवर्ष से एक बहुत बड़े पण्डित के आगमन का समाचार तुरन्त सर्वत्र फैल गया। साधारण जनता तो क्या स्वयं कुची-राज भी कुमारायण के स्वागत और अभिवन्दना के लिये उनके पास पहुँच गये।

कुची-सम्राट् ने कुमारायण को राज-पुरोहित-पद से सम्मानित किया और उनसे वहीं स्थायी निवास ग्रहण करने की प्रार्थना की। कुमारायण ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली।

कुची-सम्राट् की एक बहन थी, 'जीवा'। उस समय उसकी आयु थी लगभग बीस वर्ष। उसके रूप-लावण्य और गुण-शील की ख्याति बहुत दूर दूर तक फैली हुई थी। वह कुमारायण के तेजस्वी यौवन, आकर्षक प्रतिभा और अपूर्व गुण-श्री को देखकर उन पर मोहित हो गयी। फलस्वरूप दोनों का विवाह हो गया। इस प्रकार कुमारायण ने भिक्षुत्व का परित्याग कर के फिर संसार धर्म (गृहस्थ) ग्रहण कर लिया।

जन्म और शिक्षा

समय पा कर कुमारायण और जीवा के यहाँ काराशहर (या कारशहर) में दो बेटों का जन्म हुआ। उन्हीं में से बड़े बेटे का नाम पिता-माता—कुमारायण और जीवा—के संयुक्त नाम पर 'कुमार-जीव' रखा गया। जब इन दोनों बच्चों ने कुछ होश संभाला, तो जीवा संसार त्याग करके भिक्षुणी बन गयीं और कुमारजीव की शिक्षा की जिम्मादारी अपने ऊपर लेकर कुची के बौद्ध-विहार में चली गयीं।

कुमार-जीव की शिक्षा का आरंभ कुची के इसी बौद्ध-विहार में आरंभ हुआ। कुमार-जीव जब नौ वर्ष के हुए, तो

उन्हें बौद्ध-धर्म-शास्त्रों और दर्शन की उच्च शिक्षा दिलाने के लिये जीवा काश्मीर ले आई, क्योंकि उन दिनों विदेशों में काश्मीर को भारत का एक वहुत श्रेष्ठ शिक्षा-केन्द्र समझा जाता था।

काश्मीर पहुँच कर जीवा ने काश्मीर के राजा के भाई बन्धुदत्त की सेवा में कुमार-जीव को भेज दिया। उस समय काश्मीर में बन्धुदत्त बौद्ध-शास्त्रों के सबसे बड़े पण्डित थे। उनके शिष्यत्व में रह कर कुमार-जीव थोड़े ही दिनों में बौद्ध-शास्त्रों—विशेषत: हीनयान-धर्म-शास्त्रों में पारदर्शी हो गये। बन्धुदत्त हीनयान के अद्वितीय विद्वान थे, परन्तु बाद में महायान-सम्प्रदाय में शामिल हो गये थे।

भगवान ने कुमार-जीव को विलक्षण मेधा-शक्ति दी थी। उन्होंने बन्धुदत्त के अतिरिक्त अन्य कई पण्डितों की संगति में रह कर वेद, दर्शन और ज्योतिष आदि का भी पर्याप्त ज्ञान अर्जन कर लिया।

एक बार राज-महल में एक बहुत बड़ी पण्डित-सभा हुई। उस सभा के तर्क-युद्ध में कुमार-जीव को विजय प्राप्त हुई। इससे उनकी ख्याति दूर-दूर तक फैल गयी।

कुमार-जीव ने शिक्षा सम्पन्न कर ली। अब उनकी माता उन्हें लेकर फिर कुची देश लौट जाने के लिये चल पड़ीं। उन्होंने काश्मीर से उत्तर की ओर प्रस्थान किया। चलते-चलते शकों के देश में पहुँचे। रास्ते में उन्हें एक बौद्ध अर्हत मिले। उन्होंने कुमार-जीव को देखकर भविष्य-वाणी की। उन्होंने जीवा को बताया कि कुमार-जीव अपूर्व प्रतिभाशाली व्यक्ति सिद्ध होंगे। यदि वे ३५ वर्ष तक ब्रह्मचारी रहे, तो एक महान् पण्डित के रूप में विश्व-विख्यात होंगे और अंत में निर्वाण-पद प्राप्त करेंगे।

काशगर-गमन

कुमार-जीव की इस यात्रा के दौरान मध्य एशिया के कई देशों के विद्वानों ने आ कर उनसे भेंट की और उनसे नये-नये दार्शनिक तत्त्व-विचार सुने। जब कुमार-जीव काशगर पहुँचे, तो वहाँ उनकी भेंट एक पूर्व-परिचित भारतीय बौद्ध पण्डित बुद्ध-यशस् से हुई। जिन दिनों कुमार-जीव काश्मीर में शिक्षा पा रहे थे, उन्हीं दिनों बुद्धयशस् भी वहीं थे और दोनों आपस में मिलते-जुलते रहते थे। बुद्धयशस् अपनी छोटी ही आयु में देश छोड़-कर मध्य-एशिया के काशगर राज्य में पहुँच गये थे। उस ज़माने में यह देश भारत वासियों में 'शैल देश' नाम से परिचित था। काशगर नाम आधुनिक है। ह्यूनसांग ने इस देश का उल्लेख 'किये-श' नाम से किया है, परन्तु ह्यूनसांग से पूर्ववर्त्ती चीनी साहित्य में इसे 'शु-लेइ' या 'शु-ले' और कहीं-कहीं 'शा-ले' नाम से याद किया गया है। ७०० ई० के एक संस्कृत-चीनी अभिधान में इस नाम का प्रतिशब्द 'शूलि' दिया गया है। संभवतः ये सभी नाम संस्कृत शब्द 'शैल' के अपभ्रंश हैं। शैल देश के अधिवासियों ने बौद्ध-धर्म ग्रहण कर रखा था। राजा भी बौद्ध थे और उनके संरक्षण में राजधानी में बहुत से बौद्ध प्रतिष्ठान चल रहे थे।

शैल देश अर्थात् काशगर के राजा ने बुद्धयशस् के पाण्डित्य से प्रभावित होकर उन्हें प्रधान बौद्धायतन में स्थान दे दिया था। धीरे-धीरे उनका सम्मान बढ़ाते हुए राजगुरुपद से सुशोभित कर दिया था। बुद्धयशस् के साथ कुमारजीव की कई दिन तक शास्त्र-चर्चा होती रही। यहाँ कुमार-जीव ने संभवतः महायान बौद्ध-धर्म-शास्त्रों का अध्ययन भी किया। इसके बाद वे कुची चले गये।

विमलाक्ष से भेंट और महायान धर्म का प्रचार

जिन दिनों कुमार-जीव कुची राज्य में पहुँचे, उन दिनों वहाँ विमलाक्ष नामक बौद्ध-पण्डित की खूब धूम थी। कुमार-जीव बाल्यावस्था में जब काश्मीर में शिक्षा प्राप्त कर रहे थे, तो वहीं विमलाक्ष से उनका परिचय हो गया था। विमलाक्ष ने छोटी ही आयु में भिक्षुत्व ग्रहण कर लिया था और घर-बार छोड़ कर बौद्ध-धर्म के प्राचारार्थ विदेश चले गये थे। वे पहले मध्य-एशिया के इसी कुची राज्य के एक प्रधान बौद्ध विहार में रहे। कुची राज्य में उनसे पहले ही से बौद्ध-धर्म का प्रचलन था और चौथी शताब्दी ईसवी में कुची की राजधानी मध्य-एशिया में बौद्ध-संस्कृति का प्रधान केन्द्र बन चुकी थी।

कुची में बहुत से लोग विमलाक्ष के शिष्य बन गये थे। मध्य-एशिया के नाना स्थानों से बौद्ध भिक्षु आ कर उनसे बौद्ध शास्त्रों का अध्ययन किया करते थे। जब कुमार-जीव कुची पहुँचे तो पूर्व परिचय के कारण उनके घनिष्ठ बन्धु के रूप में उनसे मिल-कर बौद्धधर्म का प्रचार करने लगे। यहाँ भी कुमार-जीव ने महायान धर्म का विशद अध्ययन किया।

थोड़े ही समय में कुमारजीव भी एक महान् बौद्ध-पण्डित के रूप में विख्यात हो गये। उन्होंने कुची के सबसे बड़े बौद्ध विहार में अध्ययन और अध्यापन के कार्य में अपना जीवन खपा दिया। उनकी ख्याति से प्रभावित हो कर अन्य राज्यों से विद्यार्थी और भिक्षु शिक्षा और अध्ययन के लिये उनके पास आने लगे। मध्य एशिया में महायान बौद्ध-धर्म का प्रचार सबसे पहले ४०० ई० में आरंभ हुआ था। यह आरंभ सम्भवत: कुमार जीव ही ने किया था। उनके इस प्रचार का प्रभाव दूर-दूर तक होने लगा। चोक्कुक राज्य (यारकन्द) के दो राजकुमार

सूर्यसोम और सूर्यभद्र भी बहुत आकर्षित हुए। वे कुमारजीव की सेवा में उपस्थित हुए और उनसे महायान-मंत्र की दीक्षा ग्रहण की। कुमार-जीव ने उन्हें केवल दीक्षा ही न दी, अपितु महायान के सब प्रधान शास्त्रों—आर्यदेव का 'शत-शास्त्र' नागार्जुन का 'माध्यमक-शास्त्र' तथा अन्य शास्त्रों की शिक्षा भी दी। राजकुमारों ने ये सब शास्त्र कण्ठस्थ कर लिये और देश भर में घूम-घूम कर महायान-धर्म का प्रचार किया।

चीनी सेनाओं का आक्रमण : कुमार जीव बन्दी

कुमार-जीव धर्म-प्रचार और अपने घनिष्ठबन्धु विमलाक्ष के साथ शास्त्र-चर्चा में आनन्दमय जीवन व्यतीत कर रहे थे कि हठात् एक दिन चीनी सेनाओं ने कुची पर आक्रमण कर दिया। यह ३८३ ई० की घटना है, जब भारत में चन्द्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य का, जिन्होंने शक-सम्राट् को मार कर उसके वेगपूर्ण अभियान को पीछे धकेल दिया था, शासन था। कुची पर चीनी सेनाओं के आक्रमण का एक कारण यह बताया जाता है कि कुची देश के अन्दर ही उसके शत्रु पैदा हो गये थे। राजा का एक दूर का सम्बन्धी उनके ऐश्वर्य को देख कर उनसे ईर्ष्या और द्वेष करने लग गया था। उसीने चीन देश के एक सेनापति को कुची पर आक्रमण करने का आमन्त्रण दिया था।

कारण चाहे कुछ भी हो, परन्तु यह सत्य है कि चीन के सम्राट् 'फु-चिएन' ने अपने सेनापति 'लू-कुआंग' (Lu-Kuang) को 'कुची' पर आक्रमण करने का आदेश दिया। 'लू-कुआंग' ने अपने ७० हजार सैनिकों को लेकर कुची (कियन्तसी) पर चढ़ाई कर दी।

कुची का राजा, देश में अन्तःशत्रु पैदा हो जाने के कारण

विराट् चीनी सेना के साथ अधिक दिनों तक युद्ध न कर सका। अन्त में कुची का विध्वंस हो गया और बहुत से लोग शत्रु के हाथों बन्दी हो गये। विजयी चीनी सेनापति लूट के बहुत से माल के साथ उन बन्दियों को भी अपने देश में ले गया। उन युद्ध-बंदियों में महान् दार्शनिक कुमार-जीव भी थे। बन्दी होने के बावुजूद कुमार-जीव को चीन में यथोचित सम्मान प्राप्त हुआ कारण ? उनकी विद्वत्ता और विलक्षण प्रतिभा की ख्याति पहले ही से चीन में पहुँच चुकी थी। उन्हें बन्धन से मुक्त कर दिया गया और 'कान्-सु' प्रदेश के प्रदेशपाल के अनुरोध से वे 'लियांग-चौ' शहर में शास्त्रालोचना में समय बिताने लगे।

चीन-सम्राट् द्वारा कुमारजीव का सम्मान

कुमार-जीव की असाधारण विद्वत्ता और प्रतिभा की चर्चा चीन के सम्राट् 'फु-चिएन' के कानों तक भी पहुँच गयी। उन्होंने 'कान्-सु' के प्रदेशपाल को आदेश दिया कि कुमार-जीव को राजधानी भिजवा दिया जाय। इस आदेश के अनुसार ४०१ ई० में कुमार-जीव को चीन की राजधानी 'चाँग-आन' भिजवा दिया गया। 'चांग-आन' में सम्राट् की ओर से कुमार-जीव का यथोचित सम्मान किया गया और उन्हें राज-पुरोहित बना दिया गया। चीनी सेनापति 'लू-कुआंग' की यह धारणा थी कि कुमार-जीव से यशस्वी मनीषी का निस्सन्तान रहना ठीक नहीं होगा। इसलिए उसने १० महिलाओं से उनका विवाह करा दिया।

राजपुरोहित-पद पर नियुक्त होने के बाद कुमार-जीव ने भारत के धर्म और शास्त्र के प्रचार में आत्मनियोग कर दिया। थोड़े ही समय में उनका यश चीन के कोने-कोने में फैल गया। दूर-दूर के प्रदेशों के विद्वान और विद्यार्थी उनके दर्शन के लिये

आने लगे और उनमें से कई उनका शिष्यत्व ग्रहण करके उन्हीं के पास रहने लगे।

'चांग-आन' में रहते हुए कुमार-जीव ने ९ वर्षों के भीतर भारतीय धर्म और दर्शन क व्यापक प्रचार के लिये विद्वानों की एक परिषद भी स्थापित कर ली। इस परिषद में ८०० विद्वान् प्रचारक अथवा पुरोहित एवं अनुवादक सम्मिलित थे। चीन के सम्राट् स्वयं भी बौद्धधर्म ग्रहण कर चुके थे, इसलिये वे संस्कृत ग्रन्थों के चीनी-भाषानुवाद-कार्य में बहुत रुचि लेते थे। कहा जाता है कि जब अनुवाद-कार्य आरंभ हुआ तो सम्राट् ने मूल-ग्रन्थ स्वयं अपने हाथों में उठाकर इस कार्य का उद्‌घाटन किया। इस महान् कार्य में और भी भारतीय विद्वानों के सहयोग की आवश्यकता अनुभव की गयी। अतः कुमार-जीव ने अपने घनिष्ठ बन्धु सुनामधन्य काशमीरी बौद्ध पण्डित बुद्धयशस् को चीन में आने का निमन्त्रण भेजा।

यह निमन्त्रण पाकर बुद्धयशस् को बहुत प्रसन्नता हुई, क्योंकि वे पहले ही से कुमार-जीव के पास आने को उत्सुक थे और एक बार कुमार-जीव के पास पहुँचने का प्रयत्न भी कर चुके थे। जब कुमार-जीव कुची में थे, उन दिनों बुद्धयशस् ने शैल-देश (काशगर) से उनके पास कुची आने की तय्यारी कर ली थी। परन्तु उस समय कुची पर चीनी सेना का आक्रमण हो चुका था। तब बुद्धयशस् के परामर्श से शैलराज अपनी सेनाएं लेकर कुची-राज की सहायता के लिये चल पड़े थे। लेकिन उनके कुची पहुँचने से पहले ही कुची की राजधानी का पतन हो चुका था। इसलिए उनकी सहायता काम न आ सकी थी। इस सारे प्रयत्न के पीछे कुमार-जीव के पास पहुँचने के लिये बुद्धयशस् की प्रबल उत्सुकता थी। अब जब उन्हें कुमार-जीव ने स्वयं अपने पास बुला भेजा, तो उनकी खुशी का ठिकाना न

रहा और वे ४०८ ई० में कुमार-जीव के पास चीन पहुँच गये।

अनुवाद-कार्य

कुमार-जीव के अनुरोध से बुद्धयशस् ने कई बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद किया। उन अनूदित ग्रन्थों में 'सर्वास्तिवाद का सूत्र-पिटका' का 'दीर्घागम' और धर्मगुप्त सम्प्रदाय का 'विनयपिटक' प्रधान है। कुमार-जीव ने लगभग तीस वर्ष चीन में व्यतीत किये और वहीं उनका देहावसान हुआ। इन तीस वर्षों में उन्होंने चीन के बौद्ध पण्डितों के दीक्षागुरु के रूप में बहुत समादर-सत्कार प्राप्त किया। प्राय: एक हजार वर्ष तक भारतीय विद्वान उच्च दार्शनिक विचारों, तत्त्वज्ञान और धर्म के प्रचार तथा अविद्या व अज्ञान के अंधकार को दूर करने के लिये चीन-देश में जाते रहे, परन्तु उन में से सबसे श्रेष्ठ स्थान कुमार-जीव का मिला। कुमार-जीव की श्रेष्ठता और ख्याति का एक बहुत बड़ा कारण यह था कि उन्हें बहुत सी भाषाओं में पारंगति प्राप्त थी। वे चारों वेदों, पंच विज्ञानों अथवा विद्याओं, नास्तिक शास्त्रों और ज्योतिष के असाधारण ज्ञाता थे। संस्कृत से अनुवाद करने में सिद्धहस्त थे। अपने पूर्व-अधिकारियों की अपेक्षा उनमें शुद्ध एवं प्रामाणिक अनुवाद करने की अधिक सामर्थ्य थी। उन्होंने ९८ ग्रन्थों का अनुवाद किया। उनमें से ५२ त्रिपिटका या बौद्धधर्म ग्रन्थों के रूप में सुरक्षित हैं।

कहा जाता है कि कुमार-जीव ने संस्कृत से चीनी-भाषा में अनुवाद करना असम्भव तो नहीं माना, किन्तु कठिन अवश्य स्वीकार किया। इस बात की पुष्टि इस वक्तव्य से होती है, जो उनके नाम से सम्बद्ध है—"संस्कृत से चीनी भाषा में अनुवाद करना, एक व्यक्ति को अन्य व्यक्ति के द्वारा चूसे हुए चावलों

का भोजन खिलाने के समान है। यह भोजन न केवल स्वाद-हीन होता है, प्रत्युत मतली भी पैदा करता है।" खैर कुछ भी हो उन दिनों चीन में बौद्ध-धर्म के प्रति बहुत से विद्वानों के आकृष्ट होने का कारण कुमार-जीव तथा उनके उत्तराधिकारियों के अनुवाद का सौंदर्य था।

कुमार-जीव ने प्रधानतः महायान-शास्त्रों का अध्ययन, विवेचन और प्रचार किया था। महायान के बड़े-बड़े ग्रन्थों—आर्यदेव के 'शतशास्त्र', नागार्जुन के 'माध्यमक शास्त्र' आदि की दीक्षा कुची-निवासियों को दी। बौद्ध-शास्त्रों के बहुमूल्य संस्कृत-ग्रन्थ कुची-भाषा में अनुवादित हुए थे। यही अनुवादित साहित्य कुची भाषा का साहित्य समझा जाता है। कुमार-जीव ने जिन संस्कृत-ग्रन्थों का अनुवाद चीनी भाषा में किया, उनमें से विशेषतः कुछ एक ये हैं—१. महाप्रज्ञापारमिता-शास्त्र (Ta-c-tu-lun) २. शतशास्त्र (Pai- lun) ३. सुखावत्यमृत-व्यूह (Fo-shwo-o-mi-to-cin) ४. सदधर्म पुण्डरीक-सूत्र (Miao-fa-lien-hivu-cin) ५. महाप्रज्ञापारमिता-सूत्र (Mo-ho-pan-jo-po-lo-mi-cin) ६. वज्रछेदिका-प्रज्ञा-पारमिता-सूत्र (Cin-kan-jo-po-lo-mi-cin) ७.'दीर्घागम' और ८. धर्मगुप्त का विनय'

४१३ ई० में कुमार-जीव का देहावसान हो गया। उनके पश्चात् बुद्धयशस् उत्तर चीन उनके अधूरे काम को सम्पन्न करने में लगे रहे। कुमार-जीव के घनिष्ठ मित्र विमलाक्ष ने भी उनके अधूरे काम को पूरा करने का प्रयत्न किया। जिन दिनों कुमार-जीव चीन की राजधानी में अध्यापन और अनुवाद-कार्य में लगे हुए थे, उन दिनों विमलाक्ष कुची से बाहर मध्य एशिया के अन्यान्य स्थानों पर बौद्धधर्म का प्रचार कर रहे थे। कुमार-जीव की मृत्यु के पश्चात् चीन को उनकी आवश्यकता पड़ी। विमलाक्ष आमंत्रित होने पर चीन पहुँचे और उन्होंने कुमार-जीव का

आरंभ किया हुआ सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय के निवयपिटक का अनुवाद सम्पन्न किया। इतिहासकारों का अनुमान है कि काश्मीर के 'पुण्यत्रात' नामक एक और पण्डित कुमार-जीव के साथ चीन गये थे और उन्होंने कई ग्रन्थों के अनुवाद में कुमार-जीव को सहयोग दिया था।

कुमार-जीव के अनुवादित और रचित ग्रन्थों से पता चलता है कि वे विशेषत: अंतर्मुखी थे। संसार का मोह उनकी दृष्टि को आच्छन्न नहीं कर सका था। राजनीतिक तूफानों और विप्लव के मध्य भी उनका चित्त विचलित न हुआ था। निरन्तर दृढ़ और अविचल भाव से परमार्थ-कार्य, आध्यात्मिक ज्ञानार्जन और इस ज्ञान को देश-विदेश में लुटा देना ही उनका मुख्य उद्देश्य था। चीन में भारतीय सभ्यता के प्रचार का जितना काम उन्होंने किया, दूसरा कोई नहीं कर सका।



: ३ :

गुण वर्मण

ईसा की पाँचवीं शताब्दी के मध्य काल में भारतवर्ष के जो संस्कृति-दूत सर्वजन-मंगलकारिणी भारतीय ज्ञान-मन्दाकिनी के पावन प्रवाह को तुषार-मण्डित शिखर-राजि-सम्पन्न दुर्लंघ्य हिमालय और अनन्त विपद-संकुल समुद्र के उस पार दूर-दूर तक विदेशों में प्रवाहित करने के लिये गये, उनमें एक महामनीषी गुणवर्मण[1] भी थे। वे काश्मीर[2] के राजा हरिभद्र[3] के पोते और संघानन्द[4] के बेटे थे।

गुण वर्मण राजकुल-प्रदीप थे, इसलिये यह समझना स्वाभाविक ही है कि गुण वर्मण ने मुँह में सोने का चमचा लेकर जन्म लिया होगा। राजमहल हर्षोल्लास की शहनाइयों के मधुर स्वरों से गूंज उठे होंगे। नाना समारोह, उत्सव और रंगरलियाँ मानाई गयी होंगी। दीपमाला से राजधानी के वातावरण में जगमगाहटें उफन पड़ी होंगी। घर घर मिठायाँ बंटी होंगी, ग़रीबों में धन लुटा होगा। उपहार और बधाइयों की झड़ी लग गयी होगी। धूमधाम का ठिकाना न रहा होगा। नवजात शिशु के लालन-पालन के लिये धात्रियों की पलटन

---

१. गुण वर्मण का चीनी नाम Kie-na-pa-mo='किए-ना-पा-मो'।

२. काश्मीर का चीनी नाम Ki-pin=कि-पिन'।

३. हरिभद्र का चीनी नाम Ho-li-po-to=हो-लि-पो-तो।

४. संघानन्द का चीनी नाम Seng-Kia-a-nan=सेंग-किम्रा-नान।

नियुक्त की गयी होगी, सुख और आराम के लिये फूलों से कोमल मख़मल व कमख़ाव के गद्दों तथा सोने के पालनों की व्यवस्था कर दी गयी होगी। किन्तु हा दुर्भाग्य ! ये सब कुछ न हुआ।

गुण वर्मण ने इस संसार में जहाँ पहली बार आँखें खोलीं, वह खुशी के बाजों से मुखरित और सुख-सुविधाओं से प्लावित राजमहल नहीं था;—था एक जंगल—अत्यन्त बीहड़ भयंकर निर्जन जंगल। चारों ओर दिल दहलाने वाले सन्नाटे का साम्राज्य और नाना विपत्तियों का शासन। गुण वर्मण के जन्म से पहले ही उनके दादा महाराज हरिभद्र और पिता संघानन्द को कुटिल कुचक्री लोगों के षड्यन्त्र के मारे राजसिंहान, महल, धन-ऐश्वर्य सब-कुछ छोड़ देना पड़ा था। जीवन की रक्षा के लिये जंगल में आश्रय लेने के सिवा कोई चारा नहीं रह गया था।

देशनिकाले की इन विकट परिस्थियों ने गुण वर्मण के जीवन-प्रभात को धूमिल कर दिया। राज-शिशु-सुलभ लालन-पालन के सुख और ऐश्वर्य से युक्त साधनों को निठुर अतीत कुछ इस तरह से निगल गया था कि उनके उगलवाने की कोई आशा बाकी नहीं रह गयी थी। यही क्या, साधारण परिवार अपनी सन्तान के लिये जितनी सुविधाएँ जुटा पाता है, गुण वर्मण के पिता उतनी भी न जुटा सके थे। इस प्रकार गुण वर्मण का प्यारा बचपन काँटों से भरी कंकरीली बनस्थली में प्रकृति के भीषण हिमपात, वृष्टि, झंझावात और शीत, उष्ण से युक्त कठोर शासनाधीन गिरता-उठता, लड़खड़ाता-संभलता हुआ पनपने लगा।

'होनहार बिरवा के चिकने-चिकने पात'—यह कहावत गुण वर्मण के बचपन की हर अदा से साकार हो उठती थी। उसकी प्रत्येक बाल-क्रीड़ा में रह-रह कर विचित्र बुद्धि-रश्मियाँ

कौंध जाती थीं। उनकी बात-बात से हृदय की अलौकिक कोमलता और मन की विश्व-प्रेम-भावना टपकती थी। पक्षियों का मारा जाना उनके लिये असहनीय था। उनकी माता जब कभी उन्हें मुर्गे-मुर्गियों का माँस खिलाना चाहती, तो वे बहुत बिगड़ उठते।

ऐसे श्रेष्ठ-प्रकृति बालक का पालन-पोषण विशेष रीति से होना चाहिये था, परन्तु उनके सर्वसाधन-हारा वनवासी पिता संघानन्द के पास क्या रखा था। फिर भी उन्होंने गुण वर्मण के बौद्धिक और मानसिक विकास के लिये भरसक प्रयत्न किया। उन्हें पूरे मनोयोग से स्वयं लिखाया-पढ़ाया और सदुपदेश व नैतिक शिक्षा से उनके अन्तःकरण को और भी उज्ज्वल कर दिया। लेकिन वे अधिक समय तक जीवित न रहे। गुण वर्मण कच्ची आयु ही में पिता की स्नेहमय छाया से वंचित हो गये। एक बिजली सी उन पर टूट पड़ी। परन्तु पिता की दी हुई आध्यात्मिक-शिक्षा और सदुपदेश उनके आड़े आये। उनका धैर्य अडिग रहा। एक तूफान उठा और उथल-पुथल मचाता हुआ हवा हो गया—एक भूकम्प आया और तबाही मचाता हुआ चला गया। लेकिन गुण वर्मण चट्टान की भांति अविचल रहे।

राज्य ठुकरा कर भिक्षुत्व ग्रहण

पिता की मृत्यु के पश्चात् गुण वर्मण का जीवन नये मोड़ में प्रविष्ट हुआ। यह अग्नि-परीक्षा का दौर था। गुण वर्मण समस्त विघ्न विपत्तियों को पददलित करते हुए अध्यात्म-साधना के मार्ग पर अविरल गति से चलते रहे। जब वे अठारह वर्ष के हुए, तो एक ज्योतिषी ने उन्हें बताया कि तीस वर्ष की आयु में वे एक राज्य पर शासन करेंगे। इसके बाद दक्षिण की ओर

लम्बी यात्रा पर चल देंगे और बौद्ध सन्त के रूप में उनकी ख्याति संसार भर में फैल जायगी।

बीस वर्ष की आयु में गुण वर्मण ने दीक्षा ग्रहण की और बौद्ध-भिक्षु बन गये। उन्हें भिक्षुत्व-शासन अर्थात् विनय में बहुत रुचि थी। उन्होंने थोड़े ही समय में समस्त बौद्ध-शास्त्रों का अध्ययन कर डाला और पारंगति प्राप्त कर ली। वे त्रिपिटक के विषय में विशद ज्ञान रखते थे, इसलिये 'त्रिपिटकाचार्य' की उपाधि से सम्मानित किये गये।

इधर उनकी जीवन-यात्रा का तीसवाँ वर्ष आरंभ हुआ और उधर काश्मीर के तत्कालीन राजा परलोक सिधार गये। उनका कोई उत्तराधिकारी नहीं था। राज-सिंहासन खाली पड़ा था। मंत्रि-सामन्तों को किसी राजा की तलाश हुई। सबसे पहले उनकी नजर गुण वर्मण पर ही पड़ी, क्योंकि वे काश्मीर ही के भूतपूर्व राज-कुल की सुयोग्य सन्तान थे। मन्त्रि-सामन्तों ने गुण वर्मण को राज-तिलक से अभिषिक्त करने की घोषणा कर दी, परन्तु गुण वर्मण को राजधानी में लाने के लिये जब उनके पास पहुँचे तो उन्होंने इन्कार कर दिया। वे अध्यात्म-जीवन के आनन्द में इतने मग्न थे कि राज-सिंहासन का भव्य मोह और शासन की गौरव-गरिमा उन्हें अपनी ओर आकर्षित न कर सकी। उनके त्याग और तपस्या के सामने संसार का यह सुनहला मनलेवा माया-जाल छिन्न-भिन्न होकर रह गया। उन्होंने बचपन में पिता के मुँह से महात्मा बुद्ध के बालपन की जो करुण गाथा सुन रखी थी, वह उनके सामने मानो आज सजीव हो उठी थी। संसार के समस्त सुख-वैभव, राजश्री, भौतिक ऐश्वर्य क्षण भंगुर, टूटते, तहस-नहस होते दिखायी दे रहे थे।

एक बार फिर गुण वर्मण एक ऐसी परीक्षा से उत्तीर्ण हो

गये, जो एकदम नयी और असाधारण लुभावनी थी तथा जिसमें कोई विरला ही यति साधक सफल हो पाता है।

इस परीक्षा के बाद गुण वर्मण की अध्यात्मिक अनुभूतियाँ और भी उजागर हो गयीं। अब उनके सामने अनन्त अखण्ड आनन्द-राज्य में प्रवेश करता हुआ एक सुविशाल परमार्थ-पथ खुला था। दूर बहुत दूर से कानों में आती हुई सुमिष्ठ आह्वान-ध्वनि उनकी कर्तव्य-चेतना को विभोर कर रही थी। उन्होंने कमर कसली और उस उन्मुक्त परमार्थ-पथ पर चल पड़े। एक अदम्य उत्साह उनकी नस-नस में दौड़ रहा था। एक अजेय संकल्प उनके हृदय में बिजलियाँ भर रहा था और एक लक्ष्य था उनके सामने—बहुत ऊँचा और चमकता हुआ लक्ष्य—विदेशों को भारतीय ज्ञान-धर्म के लोक-कल्याणकारी आलोक से आलोकित करना। इस लक्ष्य की ओर वे बढ़ने लगे बिना रुके-थमे—बिना थके-हारे बढ़ते ही चले गये। ऊबड़-खाबड़ रास्तों से अनेक ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों, तीव्र-गति नाले-नदियों, हिंस्र जन्तुओं से भरे हुए बीहड़ वनों, निर्जन जल-शून्य मरुस्थलों को पार करते हुए दक्षिण भारत के सागर-तट पर पहुँच गये।

उन दिनों काश्मीर अभिधर्म के अध्ययन-अनुशीलन के लिये बहुत विख्यात था। इसलिये सिंहलद्वीप (सीलोन) के बौद्धों को गुण वर्मण से 'अभिधर्म-महा-विभास-शास्त्र' के विषय में अधिक ज्ञान प्राप्त करने का विशेष अनुरोध था। कारण, अभिधर्म महा विभास-शास्त्र का सम्पादन व रचना उन पाँच सौ अर्हतों नें की थी, जो सम्राट् कनिष्क द्वारा आयोजित चौथे बौद्ध सम्मेलन में सम्मिलित हुए थे। वह सम्मेलन पंजाब में जालन्धर के तमसवन-मठ में हुआ था।

यह 'अभिधर्म-महा-विभास-शास्त्र' ग्रन्थ संस्कृत में लिखा गया था। आज भी इस संस्कृत-ग्रन्थ को बौद्ध धर्म की एक

उत्कृष्ट साहित्यिक कृति माना जाता है। संस्कृत शब्द 'विभास' का अर्थ है 'विस्तृत विश्लेषण'। 'अभिधर्म महा विभास शास्त्र' दर्शन के प्रत्येक तत्त्व की विशद व्याख्या प्रस्तुत करता है। इस ग्रन्थ का चीनी भाषा में अनुवाद गुण वर्मण से दो सौ वर्ष पश्चात् हुआ था और यह अनुवाद उच्च बौद्ध भिक्षु ह्यू न सांग' ने किया था, जो त्रिपिटकाचार्य था एवं यात्री के रूप में भारत भी (६५६-६५६ ई०) आया था। सारांश यह कि इसी महाग्रन्थ के विषय में सीलोन के बौद्धों के अनुरोध का पालन करने के लिये गुण वर्मण दक्षिण की यात्रा करते हुए सागर-तट पर पहुंच गये थे।

सीलोन व यवद्वीप की यात्रा

गुणवर्मण ने सागर पार करके सिंहलद्वीप (सीलोन) के तट पर पदार्पण किया। उनके आगमन का समाचार पा कर वहाँ के बौद्धों को बहुत हर्ष हुआ और उन्होंने श्रद्धापूर्वक स्वागत किया।

उस ज़माने में सिंहल द्वीप बौद्ध धर्म का एक अच्छा-खासा केन्द्र था। वहाँ बौद्ध शास्त्रों की चर्चा, अध्ययन और अध्यापन ज़ोरों पर था। गुण वर्मण के पहुँचने से वहाँ के इस धर्म-कार्य को बहुत बल प्राप्त हुआ। अनेक सिंहल बौद्ध भिक्षुओं ने उनसे 'अभिधर्म-महा-विभास शास्त्र' का अध्ययन व अनुशीलन किया।

कुछ समय के पश्चात् गुण वर्मण ने एक जलपोत द्वारा यव द्वीप (जावा) के लिये प्रस्थान किया। उनके वहाँ पहुँचने से कुछ पहले विख्यात चीनी बौद्ध भिक्षु फ़ा-हिएन (Fa-Hien) जावा की यात्रा करके लौट गये थे। फ़ा-हिएन ने अपनी जावा-यात्रा का विवरण चीनी भाषा में प्रस्तुत करते हुए जो कुछ

लिखा, उससे मालूम होता है कि जावा में हिन्दू धर्म समृद्धि प्राप्त कर रहा था। उन दिनों पूर्वी जावा में प्राचीन हिन्दू-ब्राह्मण-बस्तियाँ विद्यमान थीं, परन्तु उन बस्तियों का वास्तविक इतिहास उपलब्ध नहीं है। कौन जानता है कि वे बस्तियाँ कब और किन भारतीय ब्राह्मण महा मनीषियों ने स्थापित की थीं ? परन्तु यह अनुमान किया जा सकता है कि संभवतः बौद्ध धर्म के आविर्भाव से पहले भी भारतीय संस्कृति-दूतों का वहाँ जाना-आना रहता था।

इसमें संदेह नहीं कि गुण वर्मण के जावा पहुँचने से पहले वहाँ बौद्ध धर्म की कोई चर्चा नहीं थी। कहा जाता है, गुण वर्मण के पहुँचने से ठीक एक दिन पहले जावा के राजा की माता ने एक स्वप्न देखा था कि उनके राज्य में एक पवित्र व्यक्ति तीव्र-गामी नाव द्वारा जावा पहुँचा है। इस स्वप्न का फल यह हुआ कि अगले दिन जब गुण वर्मण जावा पहुँचे, तो उस प्रभावशाली राजमाता ने अपने बेटे को आदेश दिया कि वह ऐसे महान् भारतीय गुरु का स्वागत करे।

गुण वर्मण का भव्य स्वागत किया गया। यव-द्वीप में उस समय तक बौद्ध धर्म का प्रवेश नहीं हुआ था। गुण वर्मण ही वे पहले धर्मवीर थे, जिन्होंने वहाँ पहुँच कर बौद्ध धर्म का झण्डा गाड़ा। उनके तेजस्वी व्यक्तित्व, असाधारण पाण्डित्य और सारगर्भित विचारों से जन साधारण तो क्या स्वयं राज-परिवार भी बहुत प्रभावित हुआ। फलतः सबसे पहले राजमाता और बाद को स्वयं राजा ने भी गुण वर्मण से बौद्ध धर्म की दीक्षा ले ली।

इसके पश्चात् यव-द्वीप में बड़ी तेज़ी से बौद्ध धर्म फैल गया और गुण वर्मण को अद्वितीय समादर प्राप्त हुआ। इस बात का प्रमाण ५१९ ई० में रचित एक चीनी पुस्तक से मिलता है,

जिसमें गुण वर्मण की संक्षिप्त जीवन-कहानी भी दी गयी है। दीक्षा ग्रहण करने के बाद जावा के राजा ने एक घोषणा के द्वारा अपनी इच्छा प्रकट की कि (१) उसकी सारी प्रजा इन महान् भारतीय गुरु के आदेश का पालन करे, (२) राज्य में हिंसा अथवा जीव-जन्तुओं की हत्या न की जाय, (३) गरीबों को उपहार दान किये जायँ।

अब गुण वर्मण ने राज्य-संरक्षण में बौद्ध धर्म का प्रचार सब प्रकार के लोगों में आरंभ कर दिया। इस तरह थोड़े ही समय में सारे द्वीप में बौद्ध धर्म फैल गया। इन्हीं दिनों इस द्वीप पर शत्रुओं ने आक्रमण कर दिया। ऐसे संकट के समय में जावा-नरेश अपने दीक्षा-गुरु गुण वर्मण के पास पहुँचे और उनसे निवेदन किया—

"हे देव! बौद्ध धर्म के अनुसार मुझे इन आक्रमण-कारी शत्रुओं से लड़ना उचित है या नहीं?"

गुण वर्मण ने बड़े दृढ़ और ओजस्वी स्वर में उत्तर दिया, "प्रत्येक व्यक्ति का और विशेषतः राजा का यह कर्तव्य है कि डाकुओं, आततायियों और आक्रमणकारियों को दण्ड दे।"

गुण वर्मण की इस मंत्रणा के अनुसार राजा ने बड़ी वीरता से युद्ध लड़ा और शत्रुओं को परास्त कर दिया। इस घटना के पश्चात् यव-द्वीप में बौद्ध धर्म को और भी बढ़ावा मिला एवं अध्यात्मिक क्षेत्र में गुण वर्मण को सबसे उच्च-स्थान से सम्मानित किया गया, उनकी ख्याति दूर के अन्य बौद्ध देशों में भी फैल गयी।

गुण वर्मण को चीन-सम्राट् का आमंत्रण

उन दिनों वाणिज्य-व्यापार के लिये चीनी लोग भी यवद्वीप में आया करते थे। वे लोग भी गुणवर्मण के व्यक्तित्व से बहुत

प्रभावित हुए। उन्होंने अपने देश में लौट कर गुण वर्मण के यश और व्यक्तित्व की खूब चर्चा की। चीन के बौद्ध भिक्षु अथवा पुरोहित हुइ-कुआन (Hui-Kuan) तथा हुइ-साँग (Hui-tsaug) तो उनके प्रति इतने आकर्षित हुए कि वे ४२४ ई० में अन्य चीनी साधुओं को साथ लेकर चीन के सम्राट् वेन (Wen) की सेवा में उपस्थित हुए। उन्होंने सम्राट् के सामने प्रार्थना पूर्वक प्रस्ताव रखा कि गुण वर्मण को चीन लाने के लिये किसी विशेष दूत को जावा भेजा जाय, ताकि वे यहाँ आ कर बौद्ध धर्म के प्रचार व प्रसार-कार्य में सहायता दें।

चीन के सम्राट् ने अपना एक विशेष दूत जावा नरेश और गुण वर्मण के पास भेजा। जावा-नरेश गुण वर्मण को जुदा नहीं करना चाहते थे, इसलिए उन्होंने पहले गुणवर्मण को चीन भेजने से इन्कार किया, परन्तु दूत के विशेष मैत्रीपूर्ण अनुरोध को स्वीकार करते ही बना। गुण वर्मण ने भी चीनी सम्राट् का निमंत्रण स्वीकार कर लिया।

उस ज़माने में व्यापार के उद्देश्य से भारत के वाणिज्य-पोतों का हिन्द-महासागर-स्थित जावा-सुमात्रा आदि द्वीपों से लेकर चीन तक जाना-आना रहता था। अस्तु, गुण वर्मग ने मगध के 'नन्दी' या 'नन्दिन' नामक एक व्यापारी के जलपोत के द्वारा चीन के लिए यात्रा आरंभ की। वायु का बहाव अनुकूल दिशा में था। उनकी यह लम्बी और विकट यात्रा सफल रही। उनका वाणिज्य पोत सकुशल कैंटन पहुँच गया। यह एक अच्छा-ख़ासा नगर था। चीन के सम्राट् ने वहाँ के गवर्नर और सैन्य अधिकारियों को आदेश दे रखा था कि वे महान् भारतीय गुण वर्मण का स्वागत करें तथा उनके लिये सब प्रकार की आवश्यक वस्तुओं व सुविधाओं की व्यवस्था कर दें। इसके बाद उन्हें सम्मान पूर्वक राजधानी किएन-यी (Kien-ye) वर्तमान नानकिंग

भेज दें।

गुण वर्मण एक वर्ष से कुछ अधिक समय तक चिहिंग' (Che-Hing) नामक स्थान पर रहे। उन्होंने देखा कि पर्वत 'हू-चि' (Hu-che) भारत के गृध्र-कूट' पर्वत से मिलता-जलता है। भारत का गृध्रकूट पर्वत राजगिरि के निकट है और उसका आकार गीध की फुनंग के ऐसा है। गुण वर्मण के संकेत पर ची-हिंग के प्रमुख राजपदाधिकारी ने 'हू-ची' का नाम बदल कर गृध्रकूट रख दिया।

गुण वर्मण ४३१ ई० में किएन-यी' (नानकिंग) पहुंचे और सम्राट् स्वयं मिलने के लिये उनके पास गये। कहा जाता है कि सम्राट् ने गुण वर्मण से निवेदन किया, "आपके शिष्य के रूप में मैं भगवान बुद्ध के उपदेशों के अनुसार आचरण करने की इच्छा रखता हूँ। मैं चेतन जीवों अथवा प्राणि-मात्र की हत्या नहीं चाहता; परन्तु राजा होने के कारण मैं समय की अत्यावश्यकता या स्थिति के कारण भगवान की शिक्षा के पालन में असमर्थ रह जाता हूँ। हे गुरु! कृपापूर्वक मुझे इन बातों के विषय में उपदेश दीजिये।"

सम्राट् उनके सदुपदेश से बहुत मुग्ध हुए। उन्होंने गुण वर्मण को ची-हुआन (Che-Huan=जेतवन) नामक विशाल मन्दिर (विहार) निवास के लिये सौंप दिया और सब प्रकार की सुख-सुविधाओं की व्यवस्था करा दी। फिर राजधानी के सुप्रतिष्ठित सभ्रांत लोगों को गुण वर्मण की सेवा में उपहार भेंट करने तथा सम्मान प्रकट करने का आदेश दिया गया।

गुण वर्मण की सुन्दर अध्यापन-व्यवस्था और सराहनीय पाण्डित्य के प्रभाव से जेतवन विहार शीघ्र ही एक श्रेष्ठ बौद्ध-प्रतिष्ठान में परिणत हो गया। दूर-दूर से चीनी भिक्षु शास्त्रों के अध्ययन के लिये आने लगे। गुण वर्मण ने 'सद्धर्म-पुण्डरिक-

सूत्र' और दश भूमि सूत्र का विशेष प्रचार किया और चीनियों के आध्यात्मिक कल्याण के लिये प्रयत्न-शील रहे। उन्होंने बताया कि पापी लोगों में बुद्ध अर्थात् ज्ञान का आभास नहीं मिलता।" जिज्ञासुओं को समझाया कि किस प्रकार अनादि अज्ञान पर विजय प्राप्त की जा सकती है और व्यक्ति के जीवन अथवा अस्तित्व को कैसे ऊँचा उठाया जाता है। उन्होंने कहा, 'इस उच्च मंजिल तक पहुंचने के लिये हमें अपने आप को क्रमशः उसी प्रकार शुद्ध एवं परिष्कृत करना चाहिये, जिस प्रकार सोने को आग करती है।याद रखिये कि जो चीज जीव के अस्तित्व पाने अर्थात् शरीर धारण करने की इच्छा की आग में ईंधन डालने का काम करती है या पुनर्जन्म का कारण है, वह है बाह्य विषयों में आसक्ति। जन्म-मरण के दुःखों से मुक्ति प्राप्त करने या निर्वाण के लिये बौद्ध साधकों को ऐन्द्रिय अस्तित्व अर्थात् विषयेन्द्रियों और उनके विषयों के आधार के सम्बन्ध में क्रियात्मक ज्ञान होना चाहिये।

चीन में अध्ययन और प्रचार के अतिरिक्त गुण वर्मण ने दस संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद भी चीनी भाषा में किया। उनके चीनी अनुवाद की शैली बहुत सुन्दर एवं परिपूर्ण थी। उस समय के चीनी बौद्धों में उच्च-पदस्थ आचार्य ने गुण वर्मण से 'प,औ-सा-चान-किए' नामक ग्रन्थ को, जो बोधिसत्त्व के आचरण के विषय में था, प्रकाशित करने की प्रार्थना की। गुण वर्मण ने उस ग्रन्थ के २८ अध्याय प्रकाशित किये। उसके कुल अध्याय ३० थे। शेष के दो अध्यायों का अनुवाद उनके एक शिष्य ने बाद में किया।

चीन में गुण वर्मण का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण काम केवल अनुवाद-कार्य ही न था, एक और भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण काम उन्होंने सम्पन्न किया। वह कार्य था चीनी भिक्षुणियों के

संघ का संगठन। गुण वर्मण के समय तक चीन में सुसंगठित भिक्षुणिसंघ का अस्तित्व नहीं था। वहाँ बौद्ध-भिक्षुणियाँ पहले से मौजूद तो अवश्य थीं, परन्तु उनके लिये अनुशासनात्मक नियमों से युक्त कोई शुद्ध या यथार्थ धर्म-संहिता (भिक्षुणि-प्रतिमोक्ष) न थी, जिस का वे पालन करतीं।

चीनी ग्रन्थों से यह पता चलता है कि 'यिंग फोउ' (Ying-Fou) मन्दिर की भिक्षुणियाँ महान् गुरु गुण वर्मण के पास आईं और प्रार्थना की, 'हे देवा छः वर्ष हुए, सीलोन राज्य से आठ भिक्षुणियाँ इस राजधानी में आई थीं। सोंग प्रदेश में कोई बौद्ध भिक्षुणि नहीं थी। कृपया बताइये बौद्ध भिक्षुणियों के संघ के लिये विधान या नियम-ग्रन्थ कहाँ से मिलते हैं?'

गुण वर्मण उन्हें शिक्षा और उपदेश देने के लिये उसी समय तैयार थे, परन्तु उनके सामने एक कठिनाई थी। बौद्धभिक्षुणियों की संख्या यथोचित नियम लागू करने के लिये या व्यवस्था के लिये पर्याप्त न थी, फिर उनमें से कुछ की आयु अभी निश्चित आयु से कम थी। गुण वर्मण ने उनसे कहा कि वे भिक्षुणियों की आवश्यक संख्या पूरी करने के लिये विदेशों से भिक्षुणियाँ बुला लें। आवश्यक संख्या हो जाने पर गुण वर्मण की अनुमति से चीन में भिक्षुणि-संघ उचित रूप से संगठित हो गया। इस प्रकार गुण वर्मण चीन में लोक-कल्याण के कार्य करते हुए ४३१ ई० में ६७ वर्ष के होकर परलोक सिधार गये।

गुप्त-युग में जिन विख्यात पण्डितों के प्रयत्न से भारत और चीन के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुए, उनमें से गुण वर्मण का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उन घनिष्ठ सम्बन्धों का सूत्रपात इन्हीं महापुरुष के हाथ से हुआ और मैत्री का यह चिर स्मरणीय सम्पर्क शताब्दियों तक बना रहा। परिणामस्वरूप

भारतीय साहित्य, धर्म और संस्कृति ने चीन की सभ्यता पर बहुत प्रभाव डाला। इसके प्रमाण कई प्रकार से आज भी पाय जाते हैं। काश, १९६२ ई० में चीन की माओ सरकार ने इस चिर स्थित भारत-मैत्री की पीठ में छुरा न घोंप दिया होता, तो ये मैत्री-प्रमाण आज भी उज्ज्वल रूप में देखने को मिलते।



: ४ :

बुद्ध घोष

कहा जाता है कि महात्मा बुद्ध ब्राह्मण धर्म के विरोधी थे और जाति के रूप में ब्राह्मण को श्रेष्ठ नहीं मानते थे। परन्तु हमने देखा है, उनके धम्मपद आदि ग्रन्थों में सच्चे ब्राह्मण की श्रेष्ठता को उजागर किया गया है। फिर भी इस समय इस विषय पर बहस करना या कोई निर्णय देना हमारा उद्देश्य नहीं है। हाँ, इस सत्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि बौद्ध धर्म के प्रचार व प्रसार, साहित्य-निर्माण और बौद्ध-धर्म को संगठित करने में जो महान् कार्य ब्राह्मणों ने किये अन्य किसी जाति ने नहीं किये। बुद्ध घोष भी ऐसे ही एक ब्राह्मण मनीषी थे। उन्हें बौद्ध धर्म का व्यास भी कहा जाय, तो अतिशयोक्ति न होगी।

उनकी अपूर्व विद्वत्ता और प्रतिभा को देख कर स्वयं बौद्ध-भिक्षुओं ने उन्हें 'मैत्रेय' अर्थात् भावी बुद्धावतार मान लिया था और उन्हें वैसा ही सम्मान भी दिया था। लेकिन अनेक बौद्ध विद्वानों व आचार्यों की भाँति, जिन्होंने विदेशों में जा कर बौद्ध-धर्म व शास्त्रों की धाक बिठा दी थी, बुद्ध घोष का जीवन-वृत्तांत भी भारतीय बौद्ध साहित्य व इतिहास में कहीं नहीं मिलता।

लंका (सीलोन) का एक प्रसिद्ध प्राचीन इतिहास-ग्रन्थ है 'महावंश'। इस ग्रन्थ के परिवर्द्धित संस्करण 'चूलवंश' में, जो १३वीं शताब्दी ईसवी की रचना मानी जाती है, बुद्ध घोष का

जीवन-वृत्त प्राप्त होता है। उसी के आधार पर उनका यह संक्षिप्त जीवन-परिचय प्रस्तुत किया जाता है।

जन्म और शिक्षा

बुद्ध घोष बिहार प्रदेश के निवासी थे। उनका जन्म ४१३ ई० में विख्यात बौद्ध तीर्थस्थान 'बोध गया' के निकटवर्ती किसी गाँव के संभ्रांत ब्राह्मण वंश में हुआ था। बौद्धिक प्रतिभा आदि कई सद्‌गुण उन्हें वपौती के रूप में मिले थे। उनकी शिक्षा बोध गया के विहार में आरंभ हुई। अपनी विलक्षण बुद्धि के कारण उन्होंने बाल्यकाल ही में वेद, वेदांग, दर्शन आदि शास्त्रों में निपुणता प्राप्त कर ली। व्याकरण-शास्त्र में वे इतने पारंगत हो गये थे कि उनकी बराबरी कोई नहीं कर सकता था। वे शुरू में ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे। अपने असाधारण पाण्डित्य और शास्त्रज्ञता के कारण उनमें गर्व-गरिमा के अजीव भाव पैदा हो गये थे। उन्हें शास्त्रार्थ करने का बहुत चाव था। इस चाव को पूरा करने के लिये वे घूम-घूम कर विद्वानों को ढूँढ़ा करते थे और उनसे शास्त्रार्थ करते रहते थे।

शास्त्रार्थ और बौद्ध-धर्म-ग्रहण

एक बार इसी चाव में घूमते हुए वे मगध के एक बौद्ध विहार में पहुँच गये। रात का समय था। सब बौद्ध विद्यार्थी अध्ययन से छुट्टी प्राप्त कर चुके थे। अपने इस अवकाश का लाभ उठाते हुए बौद्ध विद्यार्थियों ने बुद्धघोष से 'पातंजल-योग-सूत्र' पर चर्चा छेड़ दी। उस समय बौद्ध महास्थविर 'रेवत' भी वहाँ उपस्थित थे। उन्होंने देखा कि बुद्धघोष ने 'पातंजल योगसूत्र' पर जो प्रवचन किया, उससे समस्त विद्यार्थीवृन्द प्रभावित होकर स्तब्ध रह गया है। इससे महास्थविर रेवत के मन में यह विचार उठा

कि काश! यह उदीयमान ब्राह्मण-विद्वान किसी तरह बौद्ध-धर्म में आ जाय, तो इस धर्म की प्रतिष्ठा को बहुत बढ़ावा मिले।

इस सम्बन्ध में महास्थविर को एक युक्ति सूझी। वे स्वयं भी ब्राह्मण-दर्शन और बौद्ध-दर्शन—दोनों के बहुत बड़े विद्वान थे। उन्होंने जान-बूझ कर दर्शन-शास्त्र की चर्चा छेड़ दी। बुद्ध घोष उनके इस चक्कर में आ गये और उनसे शास्त्रार्थ करने लगे। लेकिन महास्थविर रेवत ने उन्हें परास्त कर दिया। फलस्वरूप उन्होंने महास्थविर का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। उसी दिन से बुद्ध घोष के जीवन ने एक नया मोड़ ग्रहण किया। उन्होंने महास्थविर से विधिपूर्वक बौद्ध धर्म की दीक्षा ली और बौद्ध शास्त्रों का गहन अध्ययन आरंभ कर दिया। थोड़े ही समय में वे बौद्ध शास्त्रों में परंगत हो गये और बौद्ध-क्षेत्रों में उनकी धूम मच गयी। उनका कण्ठ-घोष (वाणी) भगवान बुद्ध के घोष के सदृश था। इसलिये बौद्ध क्षेत्रों में वे 'बुद्ध घोष'[1] नाम से याद किये जाने लगे और उनको जो नाम माता-पिता ने दिया था, वह ऐसा लुप्त हुआ कि आज तक किसी को मालूम नहीं हुआ।

सिंहल द्वीप की यात्रा

बौद्ध शास्त्रों के गहन अनुशीलन के पश्चात् बुद्धघोष ने 'धम्मसंगिणि' नामक ग्रन्थ पर अट्ठकथा अर्थात् भाष्य लिखा। उस भाष्य का नाम रखा 'अट्ठसालिनी'। महास्थविर रेवत ने जब यह अट्ठसालिनी-कृति देखी, तो आश्चर्यचकित रह गये। इतना

---

१. बुद्धस्स विय गंम्भीर घोसत्तानं विया करुँ।
बुद्धघोस ति सो सोभि बुद्धो विय महीतले॥

(महावंस परि० ३७)

सुन्दर और विशद भाष्य उन्होंने पहले कहीं नहीं देखा था। उन्होंने बुद्धघोष के इस प्रयास की बहुत सराहना की। इससे बुद्धघोष को वहुत प्रोत्साहन मिला और उन्होंने 'त्रिपिटक' पर अट्ठकथा (भाष्य) लिखने की तय्यारी आरंभ कर दी।

उनकी इस तय्यारी का पता जब महास्थविर रवेत को लगा तो उन्होंने बुद्धघोष को अपने पास बुलाया और आग्रहपूर्वक उनसे कहा, 'बुद्ध घोष! तुमने त्रिपिटक पर अट्ठकथा लिखने का संकल्प किया है। इतने महान् कार्य के लिये तुम्हारा यह संकल्प सराहनीय है। लेकिन याद रहे कि यहाँ तो त्रिपिटक का मूल-मात्र ही उपलब्ध है। इस पर अट्ठकथाएं तो लंका अर्थात् सिंहल-द्वीप में लिखी गयी हैं और वहीं मिलती हैं। इसलिये लंका जाओ और अट्ठकथाओं का अनुवाद सीलोनी (सिंहली) भाषा से मागधी में कर लाओ। इससे तुम्हारा यह संकल्प चरितार्थ हो जायगा।

बुद्धघोष ने गुरु की आज्ञा को सिर-आँखों पर धारण किया और लंका के लिये यात्रा आरंभ कर दी। समुद्र-तट पर पहुंच कर नाव अथवा जलपोत में सवार हुए। समुद्र-तट के साथ-साथ नाव चल पड़ी। रास्ते में एक पड़ाव पर जब नाव ठहरी, तो वहाँ 'बुद्धदत्त' नामक एक स्थविर से उनकी भेंट हुई। बुद्धदत्त लंका से लौट कर भारत आ रहे थे। उन दोनों में यात्रा के उद्देश्य पर बात-चीत चली। बुद्ध घोष ने बताया कि वे लंका से सिंहली अट्ठकथाओं का अनुवाद मागधी में कर लाने के लिये जा रहे हैं। यह सुनकर बुद्धदत्त को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। उन्होंने बुद्धघोष से कहा—

'वत्स! तुम्हारा यह संकल्प अत्यन्त सराहनीय है। जाओ और अपने उद्देश्य में सफल हो कर लौटो। मैं भी भगवान बुद्ध के शासन को सिंहली भाषा से मागधी में लिखने के लिये लंका

गया था। लेकिन मैं बूढ़ा हो चुका हूँ। अब जीवन का कुछ भरोसा नहीं रहा और इस कार्य में मेरे सफल होने की आशा नहीं। तुम जाओ, मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ है।"

बुद्ध-घोष की नाव उस पड़ाव से आगे बढ़ी। समुद्र की लहरों पर हिचकोले खाती, डोलती और थिरकती हुई बढ़ती चली गयी—। मझधारों को चीरती, भंवरों में फँसती निकलती, तूफानों से भिड़ती हुई एक दिन अपनी मंजिल पर जा लगी। जिन दिनों बुद्ध-घोष लका पहुँचे, उन दिनों महानाम नामक राजा लंका पर राज करता था।

लंका में एक विख्यात् बौद्ध विहार था 'अनुराधापुर'। यह विहार सम्राट् अशोक के पुत्र महेन्द्र ने स्थापित किया था और यह उनका निवास-मठ था। बुद्ध-घोष इसी मठ में ठहरे। वहाँ उन्होंने सिंहली भाषा सीखनी आरंभ कर दी। थोड़े ही समय में वह इस भाषा के सुयोग्य पण्डित बन गये। अब उन्होंने महा-विहार के भिक्षुओं के सामने लंका आने के अपने उद्देश्य की चर्चा की। उन भिक्षुओं ने पहले-पहले परीक्षार्थ दो गाथाएँ अनुवाद के लिये उन्हें दीं। बुद्ध-घोष ने उन दो गाथाओं का अनुवाद तो किया ही, साथ-साथ उनके आधार पर 'विसु-सिद्धान्त मग्ग' नामक एक अच्छे-खासे ग्रन्थ की रचना भी कर डाली। इस अद्वितीय ग्रन्थ का अध्ययन करके वे भिक्षु अत्यन्त प्रभावित हुए। फलस्वरूप उन्होंने बुद्ध घोष को 'मैत्रेय' (भावी बुद्धावतार) स्वीकार कर लिया। उन्होंने बुद्धघोष को वही सम्मान दिया, जो किसी अवतार को दिया जाना चाहिये था।

अब बुद्धघोष की इतनी धाक बैठ गयी कि उन्हें जिस भी ग्रन्थ की आवश्यकता पड़ती, तुरन्त भेंट कर दिया जाता। उन्होंने आवश्यक ग्रन्थों का संग्रह किया और पिटक का तथा अट्ठकथाओं

का सिंहली भाषा से पालि में अनुवाद कर डाला। उन्होंने उस विशाल बौद्ध साहित्य का अनुवाद प्रस्तुत कर दिया, जो भारतवर्ष में लुप्त हो चुका था। इस प्रकार उन्होंने अपने देश भारत के आँचल को फिर इस साहित्य के मोतियों से भर दिया।

कम्बोडिया गमन

बुद्ध घोष ने लंका में अपना काम सम्पन्न कर लिया। अब उन्होंने कम्बुज अर्थात् 'कम्बोडिया' के लिये प्रस्थान किया। एक बार फिर उन्होंने समुद्र-यात्रा का जोखिम पाल लिया। कोई नहीं जानता कि उनके जलपोत को कैसे-कैसे प्रलयंकर तूफानों और जीवन-मृत्यु की भयंकर आँख-मिचौनी में से गुजरना पड़ा! — जाने किन-किन चट्टानों से टकरा कर छिन्न-भिन्न होने से बाल-बाल बचा! कई बार विक्षुब्ध उत्ताल तरंगों ने उसे गेंद की भाँति ऊपर उछाल कर उलट-पलट देने की ध्वंस-लीला की रचना की, परन्तु उन मृतुंजयी यात्रियों के दृढ़ संकल्प, अविचल साहस और अलौकिक परमार्थ-शक्ति के प्रभाव से उनका जलपोत अपनी मंजिल पर जा लगा।

महामनीषी बुद्धघोष कम्बोडिया पहुँच गये। वह भूखण्ड उनकी प्रतिभा से उजागर हो उठा। मंगलमयी भारतीय संस्कृति-भागीरथी बह निकली। ज्ञान-रश्मियाँ चारों ओर फैल गयीं। बुद्धघोष के सदुपदेश और प्रचार से वहाँ के जन-जीवन में नयीं चेतना, अभिनव आत्मोल्लास और शान्ति-पूरित प्रेरणाएं भर गयीं। वे उसी देश के हो गये। उन्होंने अपना शेष जीवन वहीं जन-कल्याण के कार्यों में खपा दिया

साहित्य-रचना

बुद्ध घोष ने शाश्वत साहित्य के द्वारा भी अपार लोक व

धर्म-सेवा की। अनेक ग्रंथ लिखे। उनके ग्रन्थों में बौद्ध धर्म के विनय, नियम, दर्शन तथा नाना कथाओं ही का समावेश नहीं, अपितु भारत की संस्कृति, सभ्यता, इतिहास, भूगोल, प्राकृतिक दृश्य-चित्रण आदि अनेक विषयों की भी विवेचना की गयी है। इस लिये उनका ग्रन्थ 'समन्त पासादिका' तत्कालीन 'महाभारत' कहलाता है और वे स्वयं बौद्ध-मत के व्यास।

उनके द्वारा लिखित ग्रन्थों के नाम ये हैं—

(१) विसुद्धिमग्ग (२) समन्त पासादिका (३) पपञ्च-सूदनी (४) कंखावितरणी (५) सुमंगत विलासिनी (६) सारथ पकासिनी (७) मनोरथपूरणी (८) परमत्तजोतिका (९) अट्ठसालिनी (१०) सम्मोहविनोदिनी[1] ११ से १५ तक पञ्चप्पकरणट्ठ कथा ('धर्मसंगणि' और 'विभंग' को छोड़ कर शेष पाँच 'अभिधम्म ग्रन्थों की अट्ठकथाएँ) (१६) जातकट्ठ वण्णना (१७) धम्मपदट्ठकथा।



१. यह ग्रन्थ वेदव्यास कृत 'महाभारत' की भांति नाना ज्ञान का एक कोष ग्रन्थ है।

: ५ :

परमार्थ अथवा गुणरत्न

गुण वर्मण से सौ से कुछ अधिक वर्ष के पश्चात् ज्ञान-प्रसार के लिये एक अविरत अविचल तड़प और सुधर्म-प्रचार की एक उद्दाम उन्मुक्त उमंग परमार्थ को भारत से काले कोसों दूर चीन ले गयी। उन दिनों चीन और भारत के मध्य सम्बन्ध-सूत्र काफी दृढ़ हो चुके थे। प्रमुख्य चीनी भिक्षु फाहियान के भारत-भ्रमण-वृत्तान्त से चीन के बौद्ध विद्वानों को भारत के सम्वन्ध में यथोचित जानकारी प्राप्त हो चुकी थी। उन्हें यह मालूम हो गया था कि भारत आ कर बौद्ध-शास्त्रों का अध्ययन करना कोई असंभव बात नहीं। इधर चीनी भिक्षुओं के संस्पर्श में आ कर भारत के नाना बौद्ध विहारों के पण्डितों को चीन के विषय में विविध समाचार मिलने लगे थे। उन्हें यह भी ज्ञात हो गया था कि चीन के पण्डितों में बौद्ध-शास्त्र-अनुशीलन की बहुत अभिरुचि पैदा हो गयी है और वे इन शास्त्रों पर अधिकार प्राप्त करने लगे हैं। भारतीय पण्डितों से यह बात भी छिपी नहीं थी कि काश्मीर के अनेक बौद्ध पण्डित मध्य एशिया और चीन जाकर शास्त्र और धर्म-प्रचार में अपने जीवन का उत्सर्ग कर चुके हैं।

यही कारण था कि छठी शताब्दी के आरंभ ही में भारत के विभिन्न स्थानों से बौद्ध पण्डित चीन जाने लगे थे। उज्जयिनी

से भी छटी शताब्दी के मध्य भाग में बौद्ध पण्डित 'परमार्थ' और 'उपशून्य' चीन गये थे। उस ज़माने में उज्जयिनी पश्चिमी भारत में संस्कृत के विद्वानों का विख्यात केन्द्र था। परमार्थ इसी उज्जयिनी के एक श्रमण थे। उनका दूसरा नाम था गुण-रत्न। चीन में वे पो-लो-मो-थो (Po-lo-mo-tho) अथवा सेन-ती (Cen-ti) या कु-ना-लो-थो (Cu-na-lo-tho) नाम से सम्मानित हुए।

उपशून्य थोड़े ही समय तक चीन रहे और वहाँ उन्होंने केवल छः ही ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। परन्तु परमार्थ ने चीन में बहुत काम किया। उन्होंने उज्जयिनी में कई शास्त्रों में पारदर्शिता प्राप्त की थी और इसके पश्चात् मगध चले गये थे। अन्यान्य शास्त्रों के अध्ययन के लिये ही वे संभवतः पाटलीपुत्र गये थे।

उन्हीं दिनों मगध देश के राजा के पास चीन के सम्राट् ने अपना एक दूत मगधराज के पास भेजा। चीन के दूत ने जाते-जाते रास्ते में कम्बोज के राजदूत को साथ ले लिया और मगध पहुँच गया। उसने मगधराज से प्रार्थना की कि वे किसी विख्यात बौद्ध विद्वान को चीन भेजने की कृपा करें। उस समय बौद्ध पण्डितों में परमार्थ का नाम बहुत ख्याति प्राप्त कर चुका था। इसलिये मगध-नरेश की दृष्टि परमार्थ पर ही पड़ी। उन्हीं की प्रेरणा से बहुत से ग्रन्थ, पत्र आदि लेकर गुणरत्न परमार्थ समुद्र के मार्ग से चीन के लिये रवाना हुए और ५४६ ई० में दक्षिण चीन पहुंच गये। वहाँ उनका बहुत सम्मान हुआ। इसके पश्चात् चीन सम्राट् के अनुरोध से वे ५४८ ई० में नानकिङ चले गये। उन्होंने सम्राट् की इच्छा से बौद्ध शास्त्रों का, जो वे अपने साथ भारत से ले गये थे, चीनी भाषा में अनुवाद करना आरंभ कर दिया। यह कार्य ५५७ ई० तक जारी रहा।

यह दस वर्ष तो शांतिपूर्वक अनुवाद-कार्य में व्यतीत हो गये। इसके पश्चात् हठात् चीन में राजनीतिक क्रान्ति की भयानक ज्वाला भड़क उठी। इस रक्त-रंजित दौर में मनीषी परमार्थ को जीवन के लाले पड़ गये और उन्हें प्राण-रक्षा के लिये चीन में जाने किन स्थानों पर भटकना पड़ा। उन्होंने दक्षिणी समुद्र के द्वीपों में पहुँचने के लिये जल-पोत द्वारा प्रस्थान करने का प्रयत्न किया, परन्तु सफल-मनोरथ न हो सके, क्योंकि वायु-प्रवाह उस यात्रा के अनुकुल नहीं था। आखिर इस राजनीतिक क्रान्ति के शान्त होने के पश्चात् वे एकान्त में रह कर फिर अनुवाद-कार्य में जुट गये।

परमार्थ ने लगभग ७० संस्कृत-बौद्ध-ग्रन्थों का अनुवाद चीनी भाषा में किया। इन ग्रन्थों में से उल्लेखनीय ग्रन्थ ये हैं — 'महायान-सम्परिग्रह शास्त्र', 'मध्यान्त-विभाग शास्त्र', 'विज्ञान-मात्रता-सिद्धि' आदि योगाचार-विज्ञानवाद के दार्शनिक ग्रन्थ, 'तर्क शास्त्र' 'अभिधर्म और 'सांख्यकारिका'। सांख्यकारिका बौद्ध शास्त्रों के अन्तर्गत न होने पर भी बौद्ध-दार्शनिक ग्रन्थों में इसका अनेक बार उल्लेख किया गया है और बौद्ध पण्डित इस ग्रन्थ का बहुत अध्ययन करते हैं। अनुवादित ग्रन्थों की विषय-वस्तु से स्पष्टतः विदित होता है कि परमार्थ को दर्शन-शास्त्रों में विशेष अधिकार था। चीन में योगाचार-दर्शन के प्रचलन में परमार्थ के अनुवाद-ग्रन्थों से यथेष्ट सहायता मिली थी।

परमार्थ, बोधिरुचि और युआन च्वांग (yuan Chwang) —ये तीनों विज्ञान-स्कूल के प्रतिनिधि थे। इन्होंने संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद चीनी भाषा में किया था। जहाँ तक परमार्थ के अनुवाद-कार्य के समय का सम्बन्ध है, इसे दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। पहला भाग ५४८ से ५५७ ई० तक और

दूसरा ५५७ से ५६९ ई० तक। पहले भाग में उन्होंने १० ग्रन्थों का अनुवाद किया, जिनमें से ६ अनुवाद-ग्रन्थ ७३० ई० तक मौजूद थे। दूसरे भाग में उन्होंने 'हानवंश' के संरक्षण में बहुत से ग्रन्थों का अनुवाद किया। यह काम ५६९ ई० तक जारी रहा।

परमार्थ ने चीन में सम्परिग्रह-शास्त्र का स्कूल स्थापित किया। इस सम्प्रदाय का आधार उन ग्रन्थों पर था, जिनका अनुवाद उन्होंने संस्कृत से चीनी भाषा में किया था। इस सम्प्रदाय के अनुयायी प्रतिष्ठित वर्ग के लोग थे और इसे लगभग ८० वर्ष तक बौद्ध विद्वानों में मान्यता प्राप्त रही। इस सम्प्रदाय को भी अन्य बौद्ध सम्प्रदायों की भाँति चीन में राजनीतिक प्रतिबन्धों के कारण हानि पहुँची। मन्दिरों का ध्वंस भी हुआ और इसे सर्वप्रिय सहायता से वंचित होना पड़ा। इसके अतिरिक्त इस 'महायान सम्परिग्रह-शास्त्र सम्प्रदाय' के ह्रास का एक कारण 'यान च्वांग' द्वारा स्थापित 'धर्म-लक्षण-सम्प्रदाय' की सर्वप्रियता भी थी। परमार्थ महायान सम्परिग्रह-शास्त्र के पढ़ने पर ज़ोर देते थे, परंतु 'युआन च्वांग' ने 'विद्यामात्र सिद्धि-शास्त्र' का अनुवाद किया था और वे निर्वाचित मूल पाठ के अध्ययन पर ज़ोर देते थे। वह मूल पाठ छः सूत्रों और ११ शास्त्रों से संगठित था। अन्ततः परमार्थ द्वारा स्थापित महायान सम्परिग्रह-शास्त्र-सम्प्रदाय' युआन च्वांग के द्वारा स्थापित धर्मलक्षण सम्प्रदाय में समाहित हो गया। इस सम्प्रदाय का नाम 'नवीन अनुवाद-पद्धति' विख्यात हुआ और परमार्थ के द्वारा स्थापित सम्प्रदाय 'प्रधान-अनुवाद-पद्धति' कहलाया। परमार्थ के सम्प्रदाय का विलय युआन के सम्प्रदाय में हो जाने के बावजूद 'विज्ञान-वाद दर्शन' का यथार्थ ज्ञान, 'धर्म-लक्षण' और 'महायान परिग्रह-शास्त्र'— दोनों सम्प्रदायों के तुलनात्मक अध्ययन ही से हो सकता है।

परमार्थ ने ५६३ ई० में भारत लौट आने का प्रयत्न किया, परन्तु संभवतः चीन में राजनीतिक उथल-पुथल के कारण सफल न हुए। वे अंतिम समय तक चीन ही में रह कर ज्ञान-प्रसार और लोक-कल्याण में लगे रहे और चीन ही में ५६९ ई० में ७१ वर्ष के हो कर इस संसार से उठ गये।



: ६ :

बोधि धर्म

भारतीय पण्डितों की शिक्षा और चीनी भिक्षुओं की निष्ठा के प्रभाव से चीन देश के जन-साधारण ने थोड़े ही समय में बौद्ध धर्म को अपना लिया था। चीन में बौद्ध धर्म के इस व्यापक प्रसार का एक और प्रधान कारण यह भी था कि चीन में पहले कोई धर्म नहीं था। कनफ्यूसियस की शिक्षा में धर्म का कोई बीज न था, जो अंकुरित होकर जनसाधारण के एक उपयोगी धर्ममत में परिणत हो सकता। कनफ्यूसियस ने राष्ट्र और समाज का सुनियंत्रण करने ही में सारा जीवन खपा दिया था।

चीन में बौद्ध धर्म के प्रसार के साथ कुछ ही समय में कई बौद्ध सम्प्रदाय स्थापित हो गये। उन में से सध्यान सम्प्रदाय विशेष उल्लेखनीय है। इस सम्प्रदाय के प्रतिष्ठाता भारत के एक महान् यात्री और साधक 'बोधि धर्म' थे। यह सम्प्रदाय ५०० ई० में स्थापित हुआ था। इसका चीनी नाम 'छान' और जापानी 'जेन' है। यह नाम संस्कृत शब्द 'ध्यान' के प्राकृत रूप 'झान' से लिया गया।

इस ध्यान-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठाता बोधि धर्म या धर्म-बोधि (चीनी नाम 'ता-मा-फू-थी') भारत के एक श्रमण थे। वे दक्षिण भारत में पैदा हुए और काँचीपुर के राजा के संभवतः तीसरे पुत्र थे। उन्होंने छोटी ही आयु में बौद्ध धर्म की दीक्षा लेकर

योग-साधना में सिद्धि प्राप्त कर ली थी। योग-साधन का जो पथ उन्होंने ग्रहण किया था, उसको ध्यान-मार्ग कहा जाता है। योग-साधन या योग-मार्ग और ध्यान-मार्ग में एक प्रभेद है। ध्यान-मार्ग में केवल चित्त की एकाग्रता की आवश्यकता होती है, जबकि योग-मार्ग में आसन, मुद्रा आदि आनुषंगिक यौगिक क्रियाएं भी अनिवार्य रूप से आवश्यक होती हैं।

कहा जाता है कि बोधि धर्म ने भारतीय बौद्ध समाज में बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की थी। यह इतनी असाधारण थी कि भगवान बुद्धदेव के परित्यक्त प्राचीन चीवर और भिक्षा-पात्र उन्हें व्यवहार करने के लिये दिये गये थे।

चीन की यात्रा : सम्राट् से विचार विनिमय

५वीं शताब्दी ईसवी के आरंभ में विदेशों की यात्रा के लिये बोधि धर्म ने भारत से प्रस्थान किया। उनका उद्देश्य अपनी दर्शनपद्धति का प्रचार दूर-दूर देशों में करना था। वे विभिन्न देशों का पर्यटन करते हुए ४७० ई० में चीन पहुँचे। वहाँ उनका समादरपूर्वक स्वागत किया गया। दक्षिण चीन के एक सम्राट् 'लिआंग्-वू-ती' (Liang-wu-ti) ने उन्हें अपने यहाँ नानकिंग आने का निमंत्रण दिया। कहते हैं वहाँ सम्राट् के साथ उनका विचार-विनिमय हुआ जिससे बोधि धर्म के सिद्धान्त अथवा विचारों का स्पष्टी-करण हो गया।

बोधि धर्म का दार्शनिक मतवाद नागार्जुन के माध्यमिक दर्शन के अनुरूप था। वे संसार को प्रपंचमय अथवा धोखा समझते थे। उनके मतानुसार सांसारिक पाप-पुण्य, धर्म कर्म आदि का वास्तविक मूल्य कुछ नहीं है। इसलिये दक्षिण-चीन के सम्राट् उनके विचार सुनकर बहुत विस्मित हुए। उनसे विचार-विनिमय करते हुए सम्राट् ने पूछा—

"मैं जब से राजसिंहासन पर बैठा हुँ, बौद्ध धर्म का पालन कर रहा हूँ ; लगातार मन्दिर, मठ, विहार आदि बनवा रहा हूँ। इन धर्म-कार्यों के फलस्वरूप मेरा कितना पुण्य-संचय हो गया है ?"

बोधि-धर्म ने कहा—"कुछ भी पुण्य-संचय नहीं हुआ।"

"तब यथार्थ भाव में पुण्य क्या है ?" सम्राट् ने पूछा।

"पुण्य का उद्भव शुद्धता, शुचि, ज्ञान, दिव्य विचार पूर्णता और गंभीरता से होता है। दूसरे शब्दों में यह कहिये कि इन चीज़ों के समष्टि-भाव को पुण्य कहा जाता है। ऐसी योग्यता या पुण्य लौकिक अथवा पार्थिव साधनों द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता।"

सम्राट् ने फिर प्रश्न किया—"पावन सिद्धान्तों या धर्ममतों में सबसे महत्त्वपूर्ण कौन-सा सिद्धान्त या धर्ममत है ?"

"संसार की प्रत्येक वस्तु वास्तविकता से शून्य है अर्थात् अवास्तविक है और पावन नाम की कोई वस्तु नहीं।"

"वह कौन है, जो मुझे उत्तर दे रहा है ?" सम्राट् ने पूछा।

"यह मैं स्वयं भी नहीं जानता कि वह कौन है ? बोधि धर्म का उत्तर सुनकर सम्राट् की समझ में कुछ न आया। परन्तु इस वार्तालाप से स्पष्ट होता है कि बोधि धर्म के मत का सारांश शून्यवाद है और शून्यता प्रत्येक प्रकार की व्याख्या से अतीत है।

ध्यान सम्प्रदाय का प्रसार

कुछ समय के पश्चात् बोधि धर्म दक्षिण चीन से उत्तर चीन की ओर प्रस्थान कर गये, क्योंकि उनके उपर्युक्त विचित्र दार्शनिक दृष्टिकोण के लिये दक्षिण चीन में कोई स्थान न था। वे उत्तर चीन के 'सोङ-शान' नामक स्थान पर जा कर ध्यान-

धारणा की साधना में लग गये।

उत्तर चीन में अनेक लोग बोधि धर्म के शिष्य बन गये। उनके एक प्रधान शिष्य थे 'हुइ-को'। उसकी चेष्टा से ध्यान सम्प्रदाय को उत्तर चीन में बहुत प्रसार प्राप्त हुआ और धीरे-धीरे दक्षिण चीन में भी इसकी अनेक शाखाएं स्थापित हो गयीं।

बोधि धर्म ने सिद्धान्त-शास्त्रों के अध्ययन को महत्त्व नहीं दिया। उन्होंने ध्यान-योग पर ही बहुत जोर दिया। उनके विचार में केवल ध्यान-योग ही के द्वारा ज्ञान अथवा निर्वाण प्राप्त हो सकता है यही उनके ध्यान-सम्प्रदाय का मूल सिद्धान्त है।

बोधि धर्म का कहना था कि बौद्ध धर्म का सारतत्त्व ध्यान-सम्प्रदाय या ध्यान-सिद्धान्त ही का सारतत्त्व है। चूँकि उन्होंने अपने सम्प्रदाय के लिये सिद्धान्त-शास्त्रों के अध्ययन की आवश्यकता स्वीकार नहीं की थी, इसलिये उन्होंने अधिक बौद्ध-ग्रन्थों का अनुवाद न किया। केवल एक ही ग्रन्थ का अनुवाद किया। वह अनुवाद-ग्रन्थ 'महा परिनिर्वाण-सूत्र-शास्त्र' नाम से विख्यात् है। उसका चीनी नाम है—'ता-पान-नइ-फान-चिन-लुन' (Ta-pan-nie-phan-cin-lun)

बोधि धर्म से चीनी बौद्ध धर्म के तत्त्व-भाग को एक विशेष रूप ग्रहण करने में बड़ी सहायता मिली। उसी रूप में जापानी लोगों की बुद्धि और विचारों के अनुकूल रंग भरकर जापानी 'ज़ेन-बौद्ध धर्म' ने उद्भव ग्रहण किया। इस प्रकार बोधि धर्म का मतवाद दूर पूर्व देशों के घर-घर में फैल गया। उसका प्रभाव इतना स्थायी सिद्ध हुआ है कि बोधि धर्म की मृत्यु के १५ सौ वर्ष के बाद आज भी यह मतवाद अमरीका, कैनेडा और यूरोप में फैल रहा है।

नौ वर्ष तक समाधि

बोधि धर्म को ध्यान-योग में सिद्धि प्राप्त थी। वे जब चाहते थे ध्यान में समाधिस्थ हो जाते थे। इस साधना के फलस्वरूप उनका व्यक्तित्व बहुत प्रभावशाली एवं तेजस्वी बन गया था। उनकी महिमा चारों खूँट फैल गयी थी।

बोधि धर्म अपने जीवन के अन्तिम दौर में 'शाओ-लिन-स्सु' नामक मठ या मन्दिर के अन्दर समाधि लगाये बैठे थे। 'शांग क्वांग' नामक एक व्यक्ति, जिसे बाद में बोधि धर्म का उत्तराधिकारी होने का गौरव प्राप्त हुआ, उनसे भेंट करने के लिये आया। परन्तु उसे मन्दिर के भीतर जाने की अनुमति न मिली। वह बोधि धर्म की महिमा का रहस्य मालूम करने आया था। वह विफल-मनोरथ होकर लौटना नहीं चाहता था। वह धरना देकर मन्दिर के बाहर बैठ गया। सर्दी का मौसिम था। खूब वर्फ पड़ रही थी और शांग क्वांग इस हिमपात के कष्ट को निश्चल भाव से सहन कर रहा था। एक सप्ताह इसी प्रकार व्यतीत हो गया, परन्तु उसे भीतर जाने की आज्ञा न मिली। अंत में उसने अपनी बायीं भुजा काट कर बोधि-धर्म के पास भेज दी। इससे शांग ने यह भाव प्रकट किया कि वह बोधि धर्म को अपना गुरु मानता है और उनका शिष्य बनने के लिये समस्त प्रकार के बलिदान को तय्यार है।

शांग की यह असाधारण निष्ठा देखकर उसे बोधि धर्म के पास जाने की अनुमति दे दी गयी। वह बोधि धर्म के पास पहुँचा। बोधि धर्म ने उसके सामने कोई बात न की। उसे केवल एक पहेली सुनाई गयी, जिससे शांग-क्वांग के ज्ञान-चक्षु खुल गये और उसे सत्य का साक्षात् अर्थात् ज्ञान हो गया।

बोधि धर्म की समाधि जारी रही। नौ वर्ष के पश्चात् उनका आत्मा अपनी इच्छा से उनके शरीर को छोड़ गया। उनकी मृत्यु के थोड़े दिनों के बाद किसी व्यक्ति ने यह सूचना

दी—"मैंने बोधि धर्म को भारतवर्ष वापस जाते हुए पहाड़ियों में देखा है। उनके हाथ में अपने जूते का केवल एक ही पाँव था।"

यह सूचना पाकर बोधि धर्म की समाधि का द्वार खोला गया। यह देखकर सबको आश्चर्य हुआ कि वहाँ जूते का केवल एक ही पाँव पड़ा था जिसे वे छोड़ गये थे।



: ७ :

नरेन्द्र यश

प्राचीन काल में भारतवर्ष से जो साहसी विद्वान और परमार्थ-निष्ठ महानुभाव ज्ञान-प्रसार एवं लोक-कल्याण के लिए विदेशों में गये, उनका उल्लेख अथवा उनके जीवन-वृत्त का वर्णन भारत के इतिहास या किसी धर्म-ग्रन्थ में नहीं मिलता। उनके विषय में थोड़ी-बहुत जितनी भी जानकारी प्राप्त हुई है, चीन, मध्य-एशिया और सिंहलद्वीप (लंका) के इतिहास अथवा धर्म-ग्रन्थों तथा खुदाइयों से उपलब्ध पाण्डुलिपियों से संग्रह की गई है। इस जानकारी से यह पता नहीं चलता कि उन त्यागी अथवा तपस्वी पुरुषों में किस किसको विदेश-यात्रा के दौरान किन-किन भीषण विपत्तियों और प्राण लेवा संकटों से दो-चार होना पड़ा। किन्तु यह एक अपवाद ही समझना चाहिये कि नरेन्द्र यश के सम्बन्ध में उपलब्ध जानकारी से उन विपत्तियों का भी पता चलता है, जो उन्हें यात्रा में झेलनी पड़ी थीं। उनसे मालूम होता है कि उस जमाने में विदेशों की यात्रा करना जान पर खेलने और मृत्यु का आह्वान करने का दूसरा नाम था।

डाक्टर 'पा-चाउ' ने चीनी साहित्य से जानकारी संग्रह करके नरेन्द्र यश का जो जीवन-चरित प्रस्तुत किया है, उससे पता चलता है कि नरेन्द्र यश एक क्षत्रिय कुल के सपूत थे। उनका जन्म ५१८ ई० में पश्चिमी भारत (वर्तमान पश्चिमी

पाकिस्तान) के उद्यान (आधुनिक 'स्वात') नामक स्थान पर हुआ। उनके मन में संभवत: जन्म ही से त्याग, बलिदान, परमार्थ और वैराग्य के भाव बीज रूप से विद्यमान थे, जो उनके बचपन में अंकुरित होकर किशोर अवस्था तक पहुँचते न पहुँचते फलीभूत हो गये। परिणामस्वरूप उन्होंने सत्तरह वर्ष की आयु ही में संन्यास ले लिया। जब उन्होंने इक्कीसवें वर्ष में पग रखा, बौद्ध संघ ने उन्हें 'उपसम्पदा' प्रदान कर दी। अब वे भिक्षु बन गये। पर्यटन का शौक तो उनमें पहले ही से मौजूद था, अब उनके मन में आकांक्षा पैदा हुई कि वे उन पवित्र स्थानों की यात्रा करें जहाँ बुद्ध के स्मृति-चिह्न अथवा बौद्ध विहार थे।

पर्यटन

नरेन्द्र यश ने पर्यटन आरंभ कर दिया। वे बौद्ध सम्बन्धी अनेक स्थानों पर गये। दक्षिण की ओर चल पड़े, तो नाना स्थानों की यात्रा करते हुए सिंहल द्वीप तक पहुँच गये। इसके बाद उन्होंने उत्तर की ओर यात्रा आरंभ की, तो हिमालय के परे तक चले गये। यात्रा के दौरान एक बार उन्हें एक स्थविर (वृद्ध बौद्ध भिक्षु) मिले, उन्होंने नरेन्द्र यश से कहा कि वे चुप-चाप शील का अभ्यास करें, सच्चरित्रा व सद्वृत्ति का निष्ठा पूर्वक पालन करें। इसीसे उन्हें आर्यफल अर्थात् निर्वाण प्राप्त होगा, अन्यथा उनका सारा पर्यटन निष्फल रह जायगा। परन्तु नरेन्द्र यश ने स्थविर के इस आदेश का पालन न किया।

विपत्तियों का आरंभ

नरेन्द्र यश सिंहलद्वीप की यात्रा करके लौट आये। कुछ दिन तक विश्राम करने के लिये उद्यान (स्वात) में ठहर गये। वहाँ उनका एक विहार था। दुर्भाग्य वश उनके इस विहार में

आग लग गयी और वह भस्मसात् हो गया। अब वे फिर पर्यटन के लिये चल पड़े। उनके पाँच और साथी भी उनके साथ हो लिये। उन्होंने हिमालय के उत्तर की ओर प्रस्थान किया।

हिमालय की ऊँचाइयों पर पहुँच कर उन्होंने दो मार्ग देखे, जो विभन्न दिशाओं की ओर जाते थे। उनमें से एक मार्ग कुछ निरापद था, उसे मनुष्यों का मार्ग कहा जाता था। दूसरा मार्ग अत्यन्त विपत्ति पूर्ण और भीषण था। वह दानव-मार्ग कहलाता था। नरेन्द्र यश का एक साथी, जो उनसे बहुत आगे-आगे जा रहा था, दानव-मार्ग पर चला गया। इस बात का पता जब नरेन्द्र यश को लगा, तो वे भी तुरन्त उसी मार्ग पर दौड़ पड़े। परन्तु इससे पहले कि नरेन्द्र यश अपने साथी तक उसकी सहायता के लिये पहुँच पाते, दानवों ने उसे मौत के घाट उतार डाला था। अब दानवों ने नरेन्द्र यश को भी घेर लिया। नरेन्द्र यश ने मन्त्र-शक्ति द्वारा या यों कहिये कि किसी विचित्र युक्ति से अपने आपको दानवों के पंजे से छुड़ा लिया।

इसके वाद वे फिर इसी यात्रा के दौरान डाकुओं की एक टोली के हत्थे चढ़ गये। परन्तु यहाँ भी उसी पवित्र मंत्र की सहायता से वे अपने आपको बचा लेने में सफल हो गये। वहाँ से उन्होंने पूर्व को ओर चलना आरंभ किया और चलते-चलते 'जुइ-जुइ' (अवार) देश में पहुँच गये। वहाँ की स्थिति भी भीषण रूप धारण किये हुए थी। तुर्कों ने विद्रोह की ज्वाला भड़का रक्खी थी। नरेन्द्र यश ने वहाँ भी खतरा देखकर पश्चिम की ओर चलते हुए उद्यान लौट जाना चाहा, परन्तु उनके लिये यह भी संभव नहीं था। आखिर उन्होंने उत्तर की ओर प्रस्थान किया। चलते चलते वे 'नी-हाई' (नील समुद्र) के तट पर पहुँच गये। यह स्थान तुर्कों के देश से बहुत दूर था। लेकिन

यहाँ भी शान्ति नहीं थी। नरेन्द्र यश को वहाँ से भी प्रस्थान करना पड़ा।

चीन की ओर गमन : सम्राट् द्वारा सम्मान

अब नरेन्द्र यश ने उत्तर चीन का रुख किया। ५५८ ई० में वे उत्तर चीन की राजधानी 'होना' (दूसरा नाम 'येह') में पहुँचे।

वहाँ 'छी-वंश' का राज था। इस वंश के हाथ में वहाँ की राज्यसत्ता ५५०-५७७ ई० तक रही। उस समय सम्राट् 'वेन-शुयेन' राजसिंहासन पर आरूढ़ थे। उन्होंने नरेन्द्र यश का समादर पूर्वक स्वागत किया और 'थियेन-पिंग' विहार में उन्हें रहने के लिये सबसे अच्छे कमरे प्रदान किये। उनके भोजन के लिये भी विशेष प्रबन्ध कर दिये।

नरेन्द्र यश की विद्वत्ता, त्याग, गुण और शील देखकर चीन के सम्राट् अत्यन्त मुग्ध हुए। उन्होंने थोड़े ही दिनों के पश्चात् नरेन्द्र यश को बौद्ध संघ के उपनायक-पद से विभूषित कर दिया। राज-कुल के पास जितने भी संस्कृत में हस्तलेख अथवा पाण्डुलिपियाँ थीं, वे सब नरेन्द्र यश के हवाले कर दी गयीं। नरेन्द्रयश से प्रार्थना की गयी कि वे इन हस्तलेखों का चीनी भाषा में अनुवाद करें। इस कार्य में उन्हें सहायता देने के लिये सम्राट् ने चीन के विद्वान बौद्ध पण्डितों को नियुक्त कर दिया।

थोड़े समय के पश्चात् नरेन्द्र यश को बौद्ध संघ का प्रधान नायक बना दिया गया। इस उच्चपद के कारण जो उन्हें आय होती, उसका बहुत बड़ा हिस्सा वे भिक्षुओं, गरीबों, और बन्दियों के भोजन तथा पशुओं के चारे घास आदि पर खर्च कर देते। उन्होंने ज्ञान-प्रसार और विद्या-दान के अतिरिक्त सार्वजनिक हितार्थ भी अनेक कार्य किये। उन्होंने बहुत से कुएं

खुदवाये, जिससे वे स्वयं पानी निकाल कर प्यासों को पिलाया करते थे। उन्होंने बीमार पुरुषों और स्त्रियों के इलाज और परिचर्या के लिये चिकित्सालय खोले उनमें रोगियों की आवश्यकता की समस्त चीजों की व्यवस्था कर दी। चिन-जुन में पश्चिमी पर्वत के ऊपर उन्होंने तीन विहार भी बनवाये।

वे जनसाधारण में घुल मिलकर रहते और उनमें अच्छे विचारों का प्रचार करते। वे तुर्कों के ठहरने की सरायों में जाया करते और वहाँ ठहरने वाले लोगों से प्रार्थना करते कि वे महीने में कम से कम छः दिन निरामिष भोजी रहें और अपने खाने के लिये बकरियों को न मारा करें। इस प्रकार के अनेक पुण्य कार्यों में वे सदा प्रवृत्त रहते थे। फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति के दिल में उनके लिये बड़ी श्रद्धा और सम्मान के भाव पैदा हो गये थे। सम्राट् और सम्राज्ञी भी बहुत आदर करते थे। एक बार जब वे बीमार हुए तो सम्राट् तथा संम्राज्ञी स्वयं चलकर उनका हाल पूछने के लिये उनके पास पहुँचे। सम्राट् की ओर से किसी व्यक्ति के प्रति इस प्रकार का सम्मान-प्रदर्शन बहुत ही कम देखने में आता था।

भीषण क्रांति

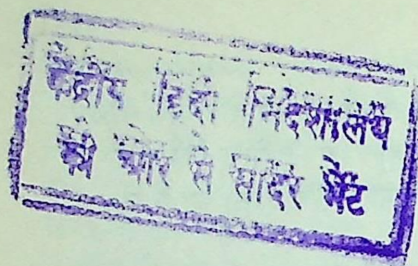
चीन संभवतः सदा सबसे भीषण क्रांतियों का देश रहा है। ५७७ ई० के अन्त में उत्तरी 'चाओ' वंश ने उत्तरी छी-वंशी सम्राट् वेन-शुयेन के राज्य पर आक्रमण कर दिया और उस वंश को मलियामेट करके रख दिया। बौद्ध धर्म के अनुयायियों पर भी विपत्ति आ गयी। सम्राट् बुक जो 'ताउ' धर्म का मानने वाला था, बौद्ध विहारों और अन्य बौद्ध संस्थाओं का समूल ध्वंस करने पर कटिबद्ध हो गया। बौद्ध धर्म के अनुयायियों को जान के लाले पड़ गये। इन परिस्थितियों में नरेन्द्र यश के

लिये वहाँ रहना और प्राण-रक्षा करना असंभव हो गया। लेकिन उन्हें एक युक्ति सूझ गयी। उन्होंने अपने भिक्षु वेश के ऊपर गृहस्थ पुरुष का लिबास पहन लिया, ताकि किसी को मालूम न हो कि वे बौद्ध भिक्षु हैं।

इस वेश में वे बहुत दिनों तक इधर-उधर भटकते रहे। और अपार कष्टों को सहन करते रहे। उत्तरी चाओ वंश का जब तक अत्याचार जारी रहा तब तक उन्हें भी इस वेश में भीषण परिस्थितियों के मध्य जीवन व्यतीत करना पड़ा। अंत में लगभग १२ वर्ष के पश्चात् ५८९ ई० में वहाँ 'सुई' राजवंश की स्थापना हो गयी और चाओ पराभव में विलीन हो गया। इस नये राजवंश के सम्राट् ने नरेन्द्र यश को फिर राजधानी में आने का निमंत्रण दिया और उनसे प्रार्थना की कि वे बौद्ध सूत्रों के अनुवाद का कार्य संभाल लें। सम्राट् ने उन्हें विदेशी भिक्षुओं के सम्मान-स्वागत सम्बंधी विभाग के सर्वोच्च पद पर नियुक्त कर दिया। उन्होंने अपने कर्तव्य का सुचारु रूप से पालन किया और उन्हें अनन्य सर्वप्रियता प्राप्त हुई।

नरेन्द्र यश ने १५ ग्रन्थों का अनुवाद किया। प्रत्येक ग्रन्थ में ८० अह्लिक थे और प्रत्येक आह्लिक में ८०० श्लोक। उन्होंने ५० से अधिक देशों की यात्रा की और एक लाख पन्द्रह हजार ली (लगभग ५० हजार मील) का सफर किया। इन सब कामों पर उन्होंने लगभग चालीस वर्ष बिताये।

○



: ८ :

जिन गुप्त

आज से लगभग डेढ़ हजार वर्ष पहले—५२२ ई० में—

गाँधार की राजधानी पुरुषपुर (वर्तमान पिशावर) में एक परम साहसी और त्यागी पुरुष ने जन्म लिया। नाम था उनका 'जिन गुप्त'। वे एक क्षत्रिय-कुल के भूषण थे। उनका वंश 'कम्बु' नाम से प्रसिद्ध था। उनके पिता वज्रसार गाँधार देश के प्रधान मंत्री थे।

किसी देश के प्रधान-मंत्री के बेटे को जो सुख और ऐश्वर्य प्राप्त हो सकते हैं, वे सब 'जिन गुप्त' को भी प्राप्त थे। वे चाहते तो अपने महलों में ठाठ से रहते। किसी रूपवती राजकुमारी या अमात्य-कन्या से ब्याह रचा कर सांसरिक आनन्द-विलास का जीवन बिताते। किसी ऊँचे पद पर आरूढ़ होकर शासन करते, सुख भोगते, मौज मनाते। परन्तु नहीं, उन्होंने अमूल्य मानव-जीवन का उद्देश्य भोग-विलास न समझा। साधारण मनुष्यों की भाँति अपने ही भौतिक स्वार्थ - अपनी ही पार्थिव उन्नति के लिये प्रयत्नशील रहने का मार्ग ग्रहण न किया। वे किसी तुच्छ-बुद्धि, आलसी और प्रमादी व्यक्ति की तरह सांसारिक 'मैं-मेरी' के संकीर्ण घेरे में बन्दी बन कर न रहे।

यह ठीक है कि इस मायावी-प्रपँच—इस मरीचिका-फाँस

से निकलना —इस दुर्भेद्य दुर्ग को तोड़ना कोई बच्चों का खेल नहीं। शारीरिक रूप से बड़े-बड़े बलवान, योद्धा, सेना-सामन्तों के अतुल्य दलबल से युक्त राजराजेश्वर तक इस अनोखे कारागार से अपने आपको मुक्त नहीं करा पाते। इसके सुनहले सीखचों से प्रायः सिर फोड़ कर रह जाते हैं, परन्तु जिन गुप्त ने अपनी छोटी ही आयु में इस दुर्भेद्य दुर्ग को तोड़ कर अपने अपूर्व पुरुषार्थ और अद्वितीय वीरता का प्रमाण दे दिया था।

जिनगुप्त ने बचपन ही में स्वर्ग के समान अनन्त सुखों से परिपूर्ण अपने घर को छोड़ दिया और बौद्ध धर्म में दीक्षित होकर भिक्षु बन गये। उन्होंने पहले कुछ समय तक उपाध्याय 'जिनयशस्' या 'जिनयशा' से शास्त्रों को पढ़ा। इसके पश्चात् आचार्य 'ज्ञान-भद्र' से साधना की शिक्षा प्राप्त की। शास्त्र-ज्ञान से सम्पन्न होकर जिनगुप्त ने आचार्य और सह-अध्यायियों के साथ धर्म-प्रचार के लिये विदेश-यात्रा करने की ठान ली।

विदेश-यात्रा

उन दिनों विदेश की यात्रा कोई साधारण काम न था। विदेश जाने के रास्ते किसी को ज्ञात न थे। सभी मार्ग बड़े दुर्गम और 'संकटों से भरपूर' थे। परन्तु जिनगुप्त के दल में जो दस भिक्षु थे, वे सभी अज्ञात् पथ के सकटों और जोखिमों को झेलने के लिये दृढ़-प्रतिज्ञ थे।

यात्रा आरंभ हो गयी। जिन गुप्त अपने साथियों के साथ पुरुषपुर (पिशावर) से रवाना हुए। वे कुभा (काबुल) नदी को तराई से होकर उत्तर पश्चिम की ओर बढ़े। चलते-चलते नगरहार (वर्तमान जलाल-आबाद) से गुजर कर कपिश-देश पहुँचे। उन दिनों कपिश-राज्य गान्धार (वर्तमान कन्धार) से अधिक समृद्धिशाली था। कारण यह था कि भारतवर्ष से उत्तर

की ओर जाने वाला प्रधान पथ कपिश से होकर वाह्लीक (बल्ख़ अर्थात् बक्ट्रिया—Bactria) तथा अन्य देशों में पहुँचता था। अतः कपिश एक ऐसा केन्द्र बन गया था, जहाँ नाना देशों के व्यापारी-वणिक आ कर एक-दूसरे से मिलते रहते थे।

उन दिनों कपिश राज्य में बौद्ध-धर्म का खूब जोर था। राजा स्वयं भी बौद्ध था। इसलिये जिनगुप्त और उनके साथियों को राज दरबार में विशेष समादर प्राप्त हुआ। कपिश उस देश का नाम था, जिसे आजकल काफ़िर-सितान् कहा जाता है। उस देश से हिन्दुकुशापर्वत[1] को पार करने के लिये तीन प्रसिद्ध

---

१. कुछ लोग कहते हैं कि इस पर्वत पर कभी हिन्दुओं और मुसलमान सेनाओं में भयानक युद्ध हुआ था, जिसमें सब हिन्दू मारे गये थे। तब से इस पर्वत का नाम 'हिन्दुकुश' अर्थात् 'हिन्दुओं को मारने वाला' पड़ गया। परन्तु यह धारणा सर्वथा मिथ्या और कपोल-कल्पित है। अफ़गान-सितान्' के विख्यात इतिहासज्ञ प्रोफेसर मुहम्मद अली साहिब का मत है कि इस पर्वत पर हिन्दू-मुस्लिम-युद्ध कभी हुआ ही नहीं। मुसलमानों के आगमन से पहले भी इसे हिन्दुकुश ही कहा जाता था। वास्तव में 'कुश' केवल 'कोह' शब्द का विगड़ा हुआ रूप है। इस पहाड़ का वास्तविक नाम 'हिन्दु-कोह' था, जो फारिस वालों ने रखा था। उनकी भाषा में 'हिन्दु-कोह' का अर्थ 'काला-पहाड़' है। 'अफगानसितान् इतिहास-परिषद' के प्रधान प्रो० हबीब का मत है कि 'हिन्दु' शब्द 'सिन्धु' का पर्याय-वाची है, जिसका अर्थ है 'नदी' या 'पानी'। आज भी पुश्तू भाषा में नदी को 'सिन्धु' और 'हिन्दु' कहा जाता है। इसी भाषा में 'कुश' या 'कश' का अर्थ है 'ऊँचा स्थान' या 'पहाड़' जहाँ से पानी या दरया निकलते हैं। इस विषय में एक तीसरा मत मौलवी मुहम्मद याकूब साहिब ने पेश किया है, यह कि हिन्दुकुश पर्वत का वास्तविक नाम 'हिन्दु-कश' है। 'हिन्दु' का अर्थ है पानी और 'कश' का अर्थ है 'खींचना' या 'खींच कर देना'। अतः जिस पहाड़ से कितने ही दरया

पहाड़ी रास्ते हैं—१. पंज-शिर नदी की उपत्यका; २. कुशान-उपत्यका और ३. बामियेन या बामियान-उपत्यका। जिन गुप्त इस तीसरे पथ को ग्रहण करके कपिश से आगे बढ़े और हिन्दु-कुश (महा-हिम-गिरि) के पश्चिमी आँचल के प्रदेश को लाँघ गये।

यह रास्ता बहुत ही कठिन और खतरनाक था। यहाँ यह बता देना उचित मालूम होता है कि बामियेन या बामियान नाम आधुनिक नहीं है। सातवीं शताब्दी के चीनी विवरणों में इस स्थान का उल्लेख 'बाम-इयेन-ना' (बामियेन्न) या बामइयेन (बामियेन) नाम से हुआ है। चीनी यात्री 'स्वेन-चाङ्' ने ६३१-६३२ ई० में इस इलाके की यात्रा की थी। उसके यात्रा-वर्णन में बामियान को चीनी नाम 'फान्-सेन्-ना' से याद किया गया है। स्वेनचाङ् ने इस इलाके के विषय में लिखा है—

"यह प्रदेश हिन्दु-कुश में 'गज' के दक्षिण-पश्चिम में ऊँची चोटियों और गहरी खड्डों का प्रदेश है। यहाँ आंधी-झंझा और वर्फ के तूफान—एक के बाद दूसरा—आते रहते हैं। गर्मी के दिनों में भी सर्दी रहती है। लुटेरों के दल के दल यहाँ सदा घूमते रहते हैं, जिनका पेशा है नर-हत्या।"

बामियान की विस्तृत उपत्यका में एक समय एक समृद्धि-शाली राज्य की राजधानी एक खड्ड के पार सीधे पहाड़ के घेरे में अवस्थित थी। बौद्ध साहित्य की किंवदन्ती के अनुसार बहुत प्राचीन काल ही से कपिल-वस्तु के शाक्य-राजाओं ने यहाँ राज करना आरंभ कर दिया था। एक बार कोशल का राजा

या कितना ही पानी कशीद होता है—खींचा जाता है, उसको 'हिन्दु-कश' नाम दिया गया। मौलवी याकूब लगभग ६० वर्ष पहले लाहौर को छोड़-कर अफ़ग़ान-सितान्' में जा बसे थे।

'विरुढ़क' शाक्य वंश के हाथों अपमानित हुआ। उसने कपिल-वस्तु पर आक्रमण करके शाक्य वंश का ध्वंस कर दिया। शाक्य वंश के इस प्रकार ध्वस्त होने का कारण यह था कि शाक्यों ने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया था। इस धर्म में जीव-हिंसा निषिद्ध होने के कारण युद्ध करने का भी निषेध था। इस लिये बौद्ध शाक्य-पुत्र युद्ध में सम्मिलित न हुए। परन्तु इस वंश के चार राज-पुत्रों ने इस निषेध-आज्ञा को न माना। उन्होंने सेना एकत्र करके युद्ध किया। इस तरह निषेध-आज्ञा के उल्लंघन का दण्ड उन्हें यह मिला कि समाज से निकाल दिये गये। स्थिति यहाँ तक बिगड़ गयी कि उन्हें अपना देश छोड़ देने पर बाध्य होना पड़ा। वे चारों राज-पुत्र अपने देश से निकल कर जब बामियान उपत्यका के इलाके में पहुँचे, तो उनमें से एक को 'उड्डियन' और दूसरे को बामियान का राजा निर्वाचित कर लिया गया।

उड्डियन के उसी शाक्य राजवंश के एक वंशधर ने ईसा की छठी शताब्दी के मध्यभाग में प्राव्राज्य ग्रहण किया और चीन पहुँच गया। उसका नाम था विमोक्ष सेन। उसने ५४१ ई० में अन्यान्य भारतीय भिक्षुओं की सहायता से दो संस्कृत-बौद्ध-ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया।

बामियान के विषय में थोड़ा सा और भी विवरण प्रस्तुत कर देना अवश्य उपयोगी होगा। कपिश की भाँति बामियान भी विभिन्न देशों के व्यापारियों का केन्द्र-स्थान था। क्योंकि हिन्दुकुश के उत्तर में जो राज्य अवस्थित थे, विशेषत: सुग्द, पारस्य (पारस) समरकन्द, वाह्लीक—उन सब देशों के वणिक भारतवर्ष की ओर आते हुए बामियान या कपिश में स्थायी या अस्थायी भाव से निवास किया करते थे। इसलिये भारतीय वणिक और धर्म-प्रचारक अथवा संस्कृति-दूत भी इन दोनों स्थानों से परिचित थे। हिन्दुकुश के उत्तर में भारतीय सभ्यता

का प्रसार इन्हीं व्यापारियों और धर्म-प्रचारकों की चेष्टा से हुआ था। बानियान के बौद्ध-विहार के भिक्षुओं ने विशेष रूप से प्रचार-कार्य में सहायता प्रदान की थी।

ईसा की छठी-सातवीं शताब्दी में भी बामियान के राजा उसी प्राचीन शाक्य वंश के वंश धर थे। बामियान राजधानी में बहुत से बौद्ध-विहार थे। उन दिनों उन विहारों में हजार से अधिक भिक्षु रहा करते थे। उपत्यका के पूर्व-पश्चिम में हिन्दु-कुश पर्वत को काट काट कर बड़ी बड़ी बुद्ध-मूर्त्तियाँ बनाई गयी थीं। उन मूर्त्तियों में से दो एक मूर्त्तियाँ डेढ़-डेढ़ सौ फुट ऊँची हैं। इन पर्वतों में अजन्ता का अनुकरण करते हुए जो गुहा-मन्दिर निर्मित हुए थे, वे सब बौद्ध-भिक्षुओं के एकान्त में साधना व अध्ययन करने के स्थान थे।

बामियान से बौद्ध धर्म और भारतीय सभ्यता के विलुप्त हो जाने के पश्चात् शताब्दियों तक उन मन्दिरों की कोई खोज खबर न थी। परन्तु वर्तमान समय में फ्रांसीसी पुरातत्ववेताओं ने उनको फिर ढूण्ड लिया तथा उन गुहाओं में ढके हुए प्राचीन युग के निदर्शनों का उद्धार किया। उन गुहा-मन्दिरों में नाना युगों के संस्कृत-ग्रन्थों के खण्डित अंश पाये गये हैं। ये ग्रन्थ प्रायः बौद्ध शास्त्रों के हैं, किन्तु लिपि और भाषा भारतीय है। सबसे अधिक प्राचीन ग्रन्थ द्वितीय और तृतीय शताब्दी का है अर्थात् कुशन-युग का। इस ग्रन्थ की लिपि वही ब्राह्मी लिपि है, जो ईसा की दूसरी या तीसरी शताब्दी में उत्तर भारत में प्रचलित थी। उस युग की लिखी हुई कोई भी पुस्तक भारतवर्ष के किसी प्रदेश में अब नहीं पाई जाती। गुप्त-युग अर्थात् ईसा की चौथी पाँचवीं शताब्दी में लिखित संस्कृत-ग्रन्थों के अंश भी उन गुहा-मन्दिरों में पाये गये हैं।

हूण-राज्य और पामीर

ख़ैर इसी बामियान-उपत्यका के पथ से हिन्दुकुश पर्वत के पश्चिमी आँचल को पार करने के पश्चात् जिन गुप्त हूणों के देश में पहुँचे, जिन्हें इतिहास में श्वेत-हूण या हेप्थलीट (Hepthaletes) कहा जाता है।

यह हूण-राज्य 'बदख़शान्' और वाखान के आँचल में अवस्थित था। पुराणों और अन्य संस्कृत-ग्रंथों मे इस राज्य का उल्लेख 'वोक्कन' (वर्तमान 'वाखान') नाम से किया गया है। जिस युग की बात हम कर रहे हैं, उस युग में इस देश में बस्तियाँ बहुत दूर दूर आबाद थीं। घर बहुत कम होते थे। यात्रियों को आश्रय मिलना अत्यन्त कठिन था। इस लिये अनुमान किया जा सकता है कि जिन गुप्त और उनके साथियों को इस देश में यात्रा करते समय कितने कष्टों और विपत्तियों का सामना करना पड़ा होगा। परन्तु अपने प्यारे भारत देश के सत्य-शाश्वत-ज्ञान और परम सुखदायिनी सभ्यता-संस्कृति के प्रसार की लगन में मस्त उन साहसी पुरुषों ने हँस हँस कर समस्त आपदों को झेल लिया।

इस आँचल को पार करके हमारे परमार्थी यात्रियों ने दुर्गम पहाड़ी रास्तों में पग रखा। पग पग पर भीषण कष्टों को झेलते हुए आगे बढ़ते चले गये और पामीर के अन्तर्गत एक छोटे से राज्य में पहुँचे। इस राज्य को प्राचीन चीनी इतिहास में 'को-लो-पान्-तो' नाम से याद किया गया है। वर्तमान 'ताश कुर्गन' जहाँ अवस्थित है, उसी आँचल में इस राज्य की प्राचीन राजधानी अवस्थित थी। पामीर उपत्यका हिम-पर्वत-मालाओं के मध्य अवस्थित है। यहाँ वसन्त और गर्मियों में भी हाड़ चीरने वाली भयंकर आँधी और वर्फानी तूफान चलते हैं। भूमि कंकरीली है और कल्लर-युक्त है। खेती नहीं होती। मुश्किल

से कहीं हरियाली देखने को मिलती है।

इस रास्ते से बर्फ से ढके पर्वत को पार करके जिन गुप्त अपने साथियों के साथ 'खोतान' पहुँचे। उन दिनों खोतान मध्य एशिया में बौद्ध धर्म का केन्द्र-स्थान एवं समृद्धिशाली नगर था। वहाँ के एक विशाल बौद्ध-विहार में रहकर कुछ समय तक जिन गुप्त धर्म-शास्त्रों का अध्ययन व अनुशीलन करते रहे। इसके पश्चात् उन्होंने मध्य-एशिया के दक्षिण की ओर जाने वाले रास्ते से चीन की ओर प्रस्थान किया।

चीन-गमन

५५७ ई० में जिन गुप्त चीन पहुँचे। उनके साथ उनके गुरु और आचार्य —'ज्ञान भद्र' एवं जिनयशस् भी थे। चीन-सम्राट् के आदेश से उनके लिये राजधानी 'चाँग-आन्' में एक नये संघाराम का निर्माण किया गया। वहाँ रहकर उन्होंने चीनी भिक्षुओं को बौद्ध-शास्त्रों की दीक्षा देनी आरंभ कर दी। इसके अतिरिक्त चार बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद भी चीनी भाषा में कर डाला।

५७२ ई० में चीन एक भीषण राष्ट्र-विप्लव से जल उठा। तब जिन गुप्त अपने शिष्यों को साथ लेकर मध्य-एशिया में आश्रय ग्रहण करने पर विवश हो गये। यहाँ ५८२ ई० तक तुर्की निवासियों के साथ रहे। उधर ५८१ ई० में चीन में एक नये राजवंश को प्रतिष्ठा प्राप्त हो गयी और विप्लव का दावानल शान्त हो गया। अब चीन सम्राट् के निमन्त्रण पर ५८५ ई० में जिन गुप्त फिर 'चांग-आन' लौट गये और बौद्ध शास्त्रों के पढ़ाने में व्यस्त हो गये। अब के उन्होंने इन बीस वर्ष के भीतर उन्तालीस बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया।

○

: ६ :

धर्म गुप्त

जिन गुप्त की चीन-यात्रा के कुछ ही समय के पश्चात् एक और भारतीय श्रमण भी धर्म और ज्ञान-प्रचार से लिये विदेशों में गये। उनका नाम था धर्म गुप्त। वे मध्य एशिया में से होते और नाना स्थानों पर जन-कल्याण के लिये सद्-उपदेश करते हुए चीन गये थे।

धर्म गुप्त, का जन्म काठियावाड़ में अवस्थित लाट प्रदेश में हुआ था। बचपन की बादशाहत का दौर व्यतीत हुआ, तो लड़कपन की चुलबुली बहारों ने अपना रंग जमाया। इसके बाद उन्मत्त रंगीले यौवन का आरंभ हुआ। धर्म गुप्त ने अपने जीवन के २३वें वर्ष में पग रखा। उनका यौवन ठाठें मार रहा था। जीवन का वसन्त उसके हृदय-उद्यान में अतीव सुन्दर रंगारंग आशाओं-आकांक्षाओं की सुरभित कलियाँ विकसित कर रहा था। सांसारिक भोग-विलास उन्हें अपने अह्लादपूर्ण आलिङ्गन में ले लेने के लिये उनका आह्वान कर रहे थे। परन्तु धर्म गुप्त ने उन समस्त भौतिक सुखों पर लात मार दी और त्याग एवं तप का जीवन ग्रहण कर लिया। उन्होंने अपने प्यारे घर का परित्याग करके ब्रह्मचर्य-व्रत को रोम रोम में रमा लिया! वे बौद्ध धर्म में दीक्षित होकर भिक्षु बन गये और ज्ञान-पिपासा बुझाने के लिये किसी विद्या-पीठ की तलाश में निकल पड़े।

चलते-चलते धर्म गुप्त कान्यकुब्ज (कन्नौज) नगर पहुँचे। वहाँ कौमदी-संघाराम नामक बौद्ध विहार में शास्त्रों का अध्ययन करने लगे। अध्ययन समाप्त करने के पश्चात् वे अपने आचार्य के साथ विदेश-भ्रमण के लिये चल पड़े। कान्यकुब्ज से प्रस्थान करके पहले 'टक्क' देश पहुँचे। टक्क देश पंजाब के उत्तरीय आँचल का पुराना नाम था। उस देश की राजधानी थी शाकल, जिसे आजकल स्यालकोट कहा जाता है।

धर्म गुप्त टक्क देश के देव-विहार में पाँच वर्ष तक रहे। इसके बाद अपने साथियों के सहित उन्होंने चीन देश की यात्रा के लिये प्रस्थान किया। टक्क देश से चलकर वे उत्तर-पश्चिम सीमान्त देश में पहुँचे। वहाँ से चीन के लिये एक ही रास्ता जाता था। वह रास्ता पिशावर से कुभा नदी (काबुल नदी) के साथ-साथ होता हुआ उत्तर-पश्चिम की ओर चला जाता था उसी पथ को धर्म गुप्त ने भी ग्रहण किया।

इस रास्ते से जाते हुए जिस देश को पार करना पड़ता था, उसे आजकल अफ़गानिस्तान कहा जाता है। वह देश वर्तमान युग में भारत से एक अलग देश की हैसीयती रखता है, परन्तु उस ज़माने में वह भारतवर्ष ही में सम्मिलित था। जिस वैदिक युग में भारतीय आर्यों की बहुत-सी शाखाएँ कुभा नदी (काबुल नदी) की उपत्यका में रहती थीं, उस युग की बात छोड़िये, उसके बाद के ज़माने में भी भारतवर्ष के साथ उस देश का सम्बन्ध अक्षुण्ण रहा। वह देश उन दिनों कई छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। उन सब राज्यों में 'कपिश' को सबसे ऊँचा। स्थान प्राप्त था। अन्य राज्य—समूह—गान्धार, नगरहार, लम्पाक, उड्डियन आदि—कपिश के अधीन थे। कपिश उस समय भी सम्पूर्ण भाव से भारतवर्ष के अन्तर्युक्त था।

उपर्युक्त रास्ते से धर्म गुप्त पहले कपिश देश में पहुंचे। कपिश देश में राजा के स्थापित किये हुए बौद्ध विहार में दो वर्ष तक धर्मशास्त्रों का अनुशीलन करते रहे। इसके पश्चात् वे कपिश से पश्चिम की ओर पहाड़ी रास्ते से आगे बढ़े और फु-खिया-लो (वाह्लीक अर्थात् बल्ख या वक्ट्रिया), पो-तो-छान-ना (बदख़शान्), को-लो-पान-तो (ताशकुर्गन) आदि देशों में से गुजरते हुए पामीर के दुर्लंघ्य रास्ते को पार कर गये। इसके पश्चात् वे शा-लेइ (= शैल देश अर्थात् काशगर) पहुँचे।

धर्म गुप्त, काशगर के बौद्ध-विहार में भी दो वर्ष तक रहे। उन्होंने यह समय वहाँ के भिक्षुओं के साथ धर्म-चर्चा करने तथा शास्त्र-अध्ययन में व्यतीत किया। इसके बाद काशगर से चलकर उन्होंने दक्षिण-पूर्व की ओर जाने वाला पथ ग्रहण न करके थियेन-शान् पर्वत के आँचलवर्ती देश में से होते हुए उत्तरपूर्व की ओर जाने वाला रास्ता ग्रहण किया। इस पथ पर यात्रा करते हुए वे सबसे पहले जिस देश में पहुँचे, वह देश था कुचा (प्राचीन कुचा या कुची)। उन्होंने दो वर्ष उसी कुचा में गुजरे। इसके पश्चात् उन्होंने चीन की ओर प्रस्थान किया। रास्ते में उन्होंने 'उ-कि' (=अग्नि-देश वर्तमान काराशर), काओ-छाँ (वर्तमान तुर्फान) और इनके निकटवर्ती कई स्थानों पर कुछ एक वर्ष व्यतीत किये। उनका यह सारा समय सदुपदेश, धर्म-प्रचार अर्थात् लोक-कल्याण के कार्यों में व्यतीत हुआ।

आखिर ५९० ई० में वे चीन देश की राजधानी चाङ-आन पहुँचे और शेष सारा जीवन उन्होंने चीन के नाना स्थानों पर बौद्ध धर्म के प्रचार और अध्यापन में गुजारा। ६१९ ई०

में चीन के लोइ-चाङ नामक स्थान पर उनका देहावसान हुआ। इस प्रकार लगभग ३० वर्ष तक उन्होंने जहाँ चीन में धर्म प्रचार और ज्ञान-प्रसार का काम किया, वहाँ लगभग दस शास्त्र-ग्रन्थों का अनुवाद चीनी भाषा में करके परमार्थ का एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया।



: १० :

विमोक्ष सेन

विमोक्ष सेन शाक्य वंश का एक राज-पुत्र था। बौद्ध साहित्य की एक किंवदन्ती के अनुसार बहुत प्राचीन काल से कपिल वस्तु के शाक्य-वंशजों ने राज करना आरंभ किया था। भगवान् बुद्ध के बाद सभी शाक्य-वंशी राजा बौद्ध हो गये थे।

एक समय कोशल देश का राजा विरुढ़क शाक्य राजा के हाथों अपमानित हुआ था। उसने अपने अपमान का बदला चुकाने के लिये कपिलवस्तु पर आक्रमण करके शाक्य-वंश को नष्ट कर दिया था। इस वंश के नाश और पराजय का बड़ा कारण यह था कि शाक्यों ने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया था। इस धर्म में जीव-हिंसा निषिद्ध थी। इसलिये शाक्य-राजा युद्ध न कर सके थे। लेकिन इस वंश के चार राज-पुत्रों ने इस निषेध-आज्ञा को नहीं माना था। वे सेना इकट्ठी करके रण-स्थल में कूद पड़े थे। उनके इस आचरण को बौद्ध धर्म के विरुद्ध माना गया। बौद्ध समाज की दृष्टि में यह एक घोर अपराध था। इसलिये उन राज-पुत्रों को समाज से निकाल दिया गया था। फल स्वरूप उन राज-पुत्रों को अपना देश छोड़ देना पड़ा था।

वे चारों राज-पुत्र कपिलवस्तु से निकलकर कपिश देश की ओर चले गये थे। उन दिनों कपिश से तीन पहाड़ी रास्ते

बाह्लीक (बल्ख़) की ओर जाते थे। उनमें से सबसे सुगम दक्षिण-पश्चिम का वह पहाड़ी रास्ता था, जिसको बामियान (Bamiyan) कहा जाता है। यह रास्ता काबुल से घोर-बन्द नदी के किनारे के साथ साथ होता हुआ बामियान नामक एक स्थान तक चला जाता था। एक ज़माने में यह स्थान बामियान की विस्तृत उपत्यका में एक समृद्धिशाली राज्य की राजधानी था।

वे राज-पुत्र कपिश से होते हुए बामियान मार्ग पर चलते-चलते बामियान-राजधानी पहुँचे। वहाँ के लोगों ने उन राज-पुत्रों में से एक को बामियान का राजा चुन लिया। इसी प्रकार उन्हीं में से एक दूसरा राजकुमार उड्डियन पहुँचा और उसे वहाँ का राजा निर्वाचित कर लिया गया। उस शाक्य-वंशज राजा से शाक्य-वंश की जो शाखा चली, उसी में ईसा की छटी शताब्दी में विमोक्ष सेन ने जन्म लिया।

विमोक्ष सेन का मन लड़कपन ही में त्याग, वैराग्य और लोक-कल्याण की भावनाओं से उजागर हो उठा था। इस लिये राजसी-गर्व-गरिमा, भोग विलास का मोह और इन्द्रिय-विषयों की माया उसे अपने जाल में न फँसा सके। उसने समस्त सांसारिक सुखों पर लात मार कर प्राव्राज्य ग्रहण कर लिया। विद्या-अध्ययन और ज्ञान-उपार्जन के लिये यथोचित साधना एवं तपस्या की। इसके बाद वह लोक-कल्याण के लिये धर्म-प्रचार में जुट गया। इस धुन में जाने कितने कठिन रास्तों और कितने ख़तरनाक इलाकों को पार करके एक दिन चीन पहुँच गया। वहाँ भी उसने अपने जीवन का क्षण-क्षण जन-कल्याण के लिये विद्यादान और धर्म-प्रचार में खपा दिया। ५४१ ई० में उसने चीन में पहुँचे हुए अन्यान्य भारतीय भिक्षुओं के सहयोग से संस्कृत बौद्ध-ग्रन्थो का अनुवाद चीनी भाषा में करना आरंभ किया। इस प्रकार उसने छः ग्रन्थों का अनुवाद किया। ये अनुवादित ग्रन्थ चीनी बौद्ध-त्रिपिटक में सुरक्षित हैं। ○

: ११ :

शान्त रक्षित

अति प्राचीन काल ही से, जिस काल का आज नियमित रूप से कोई इतिहास नहीं मिलता, भारतवर्ष के अदम्य साहसी वीर पुरुषों ने, हिमालय की हिम-मण्डित गगनचुम्बी चोटियों, दुर्लंघ्य घाटियों, गहरी खाई-खड्डों और खूँखार हिंस्र जन्तुओं से भरे हुए दुर्गम सघन जंगलों को पार करके तिब्बत जाना आना आरंभ कर दिया था। यही नहीं, भारत के लोग वहाँ जा कर बस भी गये थे। इस बात का प्रमाण महाभारत के इन शब्दों से मिलता है—"जो लोग कुरुक्षेत्र में बसते हैं, वही त्रिविष्टप में बसते हैं—

"ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टपे।"

महाभारत के ज़माने में तिब्बत ही को 'तुषार देश' और 'त्रिविष्टप' कहा जाता था। तिब्बतियों के 'नील खाता' या 'तेप-तेर-न्गोन-पो' (Tep-ter-ngon-po) नामक एक प्राचीन इतिहास-ग्रन्थ में लिखा है—"अति आदि युग में भारतवर्ष से एक संन्यासी जब तिब्बत आया, तो उसने तिब्बत को पानी में डूबा हुआ देखा। फिर जब दूसरी बार वही संन्यासी तिब्बत आया, तो उसने देखा, अनेक पहाड़ जल में से ऊँचे-ऊँचे सिर निकाले खड़े हैं।" इस पुस्तक में यह भी लिखा है कि उस ज़माने में तिब्बत कई एक छोटे-छोटे प्रदेशों में बँटा हुआ था।

एक और किम्वदन्ती यह भी है कि सातवीं शताब्दी से पहले तिब्बत में जिस राजवंश की नींव पड़ी थी, वह कोशल-राज प्रसेनजित के वंशधरों से सम्बन्ध रखता था।

इन बातों से यह सिद्ध होता है कि तिब्बत के प्राचीन निवासी भारतीय आर्य थे और स्मृत्यातीत युगों से भारतवर्ष के लोगों का वहाँ जाना आना होता रहा है तथा इन दोनों देशों में घनिष्ठ सांस्कृतिक तथा धार्मिक संबन्ध रहा है। इन्हीं सम्बन्धों को पुष्ट करने तथा अपने तिब्बती भाइयों के कल्याणार्थ यहाँ के त्यागी, तपस्वी और परमार्थी पुरुष समय समय पर वहाँ जाते रहते थे। उन्हीं में से एक उल्लेखनीय मनीषी थे 'शान्त रक्षित'। वे संभवतः ८वीं शताब्दी के पहले चरण में तिब्बत गये थे।

जन्म और शिक्षा

शान्त-रक्षित एक ब्राह्मण कुल के सुपूत थे। उनका जन्म लगभग ६५० ई० में बिहार के भागपुर जिले के पूर्वी भाग में अवस्थित 'सहोर' गाँव में हुआ था। उनकी शिक्षा का आरंभ ब्राह्मण ग्रन्थों से हुआ। वेद तथा अन्य प्राचीन वैदिक ग्रन्थों का अध्ययन करने के पश्चात् बौद्ध धर्म की शिक्षा प्राप्त करने के लिये नालन्दा चले गये। उन दिनों नालन्दा बौद्ध धर्म का एक सुविख्यात शिक्षा-केन्द्र था और वहाँ पढ़ने के लिये दूर दूर के प्रदेशों तथा विदेशों से भी विद्यार्थी आते थे। उन विद्यार्थियों के लिये शिक्षा के साथ साथ रहन-सहन खान-पान, वस्त्रादि समस्त आवश्यक वस्तुओं की व्यवस्था भी वहीं कर दी जाती थी।

६७५ ई० में शान्त-रक्षित ने आचार्य ज्ञान-गर्भ से प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। प्राव्राज्य लेने के बाद ही उन्हें शान्तरक्षित

नाम से पुकारा जाने लगा था। विख्यात चीनी यात्री ईत्सिंग ने उनका उल्लेख 'भगल' नाम से भी किया है। यह नाम संभवत: उनके भागलपुर-निवासी होने के कारण पड़ गया था। जिन दिनों शान्त-रक्षित नालन्दा में पढ़ा करते थे, उन्हीं दिनों चीनी यात्री ईत्सिग भी वहीं बौद्ध धर्म की शिक्षा पा रहा था। वह शान्त-रक्षित का सहपाठी था। ईत्सिंग ने बौद्ध धर्म की पुस्तकों के अध्ययन के साथ-साथ उनकी प्रतिलिपियाँ भी तय्यार कीं। कहा जाता है, उसने 'रत्नोदधि' पुस्तकालय से ४०० ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ प्रस्तुत की थीं। शान्त-रक्षित और ईत्सिंग लगभग ६७५ ई० से ६८५ ई० तक नालन्दा में प्रमुख विद्यार्थियों में अग्रगण्य समझे जाते थे। कुछ लोगों का कहना है कि शान्त-रक्षित नालन्दा विहार के प्रधान आचार्य थे।

तिब्बत का आह्वान

शान्त-रक्षित को विद्वत्ता और धर्मनिष्ठा की धूम दूर-दूर तक मच गयी थी। संभवत: उनके नाम की चर्चा सुनकर तिब्बत के राजा 'ति-सोङ्-दे-सेन' या 'थिसरङ्ग दिउस्थान' ने उन्हें तिब्बत पधारने के लिये निमन्त्रण भेजा।

यों तो तिब्बत में बौद्ध धर्म के प्रचार का आरंभ सम्राट् अशोक के समय हो गया था, क्योंकि सम्राट् ने 'मज्झिम' नामक एक स्थविर को हिमालय के प्रदेशों में धर्म-प्रचार के लिये भेजा था, परन्तु बौद्ध धर्म का विकास वहाँ यथार्थ रूप में गुप्त-काल में हुआ। गुप्त-काल के अंतिम चरण में तो इस धर्म को वहाँ चरम उन्नति प्राप्त हो गयी थी।

ईसा की चौथी शताब्दी में तिब्बत पर राजा 'सोंग-सेन-गम्' का शासन था। उसकी दो पत्नियाँ थीं; एक तो चीन

की राजकुमारी थी और दूसरी नेपाल-नरेश 'अंशुवर्मन' की कन्या 'भृकुटी देवी' थी। संयोग की बात है कि तिब्बत-राज की इन दोनों रानियों ने पहले ही से बौद्ध-धर्म ग्रहण कर रखा था। अपनी इन दोनों रानियों के प्रभाव से राजा 'सोंग-सेन-गम्' भी बौद्ध धर्म का अनुयायी हो गया। इसके बाद तिब्बत का राजवंश परम्परागत बौद्ध-धर्मावलम्बी हो गया। उस राजा की पांचवीं पीढ़ी में 'ति-सोंग-दे-सेन्' नामक राजा हुआ। यह सातवीं शताब्दी के अंतिम भाग से लेकर आठवीं शताब्दी के पहले चरण तक राज करता रहा। इससे पहले ६१६ ई० में 'गद्यकरण्डव्यूह' नामक ग्रन्थ का अनुवाद तिब्बती भाषा में हो चुका था।

इधर भारत में ७३२ ई० तक मगध पर गुप्त राजवंश का प्रभुत्व रहा। इस जमाने तक मगध की ओर से धर्म-प्रचार का कार्य गुप्त-राजवंश ही के प्रभाव से होता रहा। लेकिन इसके अंतिम दौर में गुप्त-साम्राज्य शत्रुओं के आघात पर आघात सहन करता हुआ लड़खड़ाने लग गया था। ऐसी परिस्थितियों में भी नालन्दा विश्वविद्यालय पूर्ववत् सुचारु रूप से अध्यापन और ज्ञान-प्रचार का कार्य कर रहा था। इसी समय तिब्बत के राजा 'ति-सोंग-दे-सेन्' की ओर से शान्त-रक्षित को आमन्त्रण मिला था। तब शान्त-रक्षित की आयु ७५ वर्ष थी। बुढ़ापे का दौरदौरा था। परन्तु शान्त-रक्षित की हिम्मत और साहस जवान थे। उनके कर्तव्य-ज्ञान एवं परमार्थ-निष्ठा ने उनमें और भी स्फूर्ति भर दी। वे तिब्बत की यात्रा के लिये चल पड़े। यह यात्रा सुगम तो थी नहीं। उन्हें अत्यन्त कठिन यातनाएं और विपत्तियां झेलनी पड़ीं।

वे पहले नेपाल पहुँचे। इसके पश्चात् उन्होंने ७२४ ई० में तिब्बत पदार्पण किया। राजा की ओर से उनका यथोचित

सम्मादर-स्वागत किया गया । राजा की सहायता से उन्होंने धर्म का प्रचार और अध्यापन का कार्य आरंभ कर दिया । उनके प्रभावशाली धर्मोपदेशों और तेजस्वी व्यक्तित्व से राजधानी ल्हासा के लोगों पर बड़ा प्रभाव पड़ा । अनेक लोगों ने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया । दुर्भाग्यवश उस समय वहाँ भयानक महामारी फैल गयी । लोग भारी संख्या में मरने लगे ।

उन दिनों तिब्बत में भूत-प्रेतों में विश्वास रखने और उनकी पूजा करने वालों की संख्या बहुत थी । उन्होंने इस महामारी का कारण भूत-प्रेतों का प्रकोप समझा । उन्होंने लोगों में बड़े रोष के साथ यह बात फैला दी कि भारत से जो भिक्षु यहाँ आया है, वह एक नये धर्म का प्रचार कर रहा है । इससे उनके इष्ट भूत-प्रेत विक्षुब्ध हो गये हैं और परिणामस्वरूप महामारी फूट पड़ी है । भूत-प्रेत-पूजकों के इस मिथ्या प्रचार से जनता भड़क उठी और राज्य में विद्रोह की स्थिति उत्पन्न हो गयी । राजा के लिये इसके सिवा कोई और उपाय न रहा कि वह शान्त-रक्षित को तिब्बत से तुरन्त बाहर भेज देता ।

राजा के परामर्श से शान्त-रक्षित नेपाल लौट आये । तिब्बत में शान्ति स्थापित हो गयी । दो वर्ष के उपरान्त तिब्बत के बौद्ध धर्म-प्रेमी राजा ने अच्छा और उपयोगी अवसर देख कर शान्त-रक्षित को फिर तिब्बत बुला लिया । अब शान्त-रक्षित अकेले तिब्बत न गये । उन्होंने नालन्दा के प्रसिद्ध तान्त्रिक पद्म-संभव को भी साथ ले लिया । पद्मसंभव भूत-प्रेत के उपद्रव को दूर करने में बड़े दक्ष थे । वे दोनों तिब्बत पहुँच गये और धर्म के काम में जुट गये । थोड़े ही समय के बाद शान्त-रक्षित ने नालन्दा से कुछ और विद्वानों को भी तिब्बत बुला लिया । इन सब विद्वानों की सहायता से शान्त-रक्षित ने बड़ी लगन से

अनुवाद का कार्य आरंभ कर दिया ।

शान्त-रक्षित जीवन-पर्यन्त तिब्बत में अध्यापन-अध्ययन, अनुवाद और धर्म-प्रचार का काम करते रहे । उन्होंने २५ वर्ष में साथी विद्वानों के सहयोग से अनेक भारतीय बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद तिब्बती भाषा में किया और करवाया । उन अनुवादित पुस्तकों में 'दिङ्नाग' की 'हेतुचक्र' नामक पुस्तक का नाम भी उल्लेखनीय है । शान्त-रक्षित ने एक वहुत वड़ा दर्शन-ग्रन्थ भी लिखा । उसमें ५००० श्लोक थे और उसका नाम था 'तत्त्व-संग्रह'।

उन्होंने तिब्बत के वनधर्म को पराजित करके बौद्ध धर्म को राजकीय धर्म में परिणत किया । उस जमाने के लामा-सम्प्रदाय का प्रवर्तन उन्हीं ने किया था । तिब्बत-वासियों ने उन्हें आचार्य बोधिसत्त्व की उपाधि से सम्मानित किया ।

तिब्बत के राजा ने शान्त-रक्षित के निवास के लिये ल्हासा के उत्तर में एक विशेष विहार बनवाया था । उस विहार का निर्माण उदण्डपुरी के विहार की रूपरेखा अथवा नक्शे के सदृश्य किया गया था और उसे 'साम्य' विहार कहा जाता था ।

शान्त-रक्षित सौ वर्ष तक जीवित रहे और अन्तिम दिनों तक काम करते रहे । उनकी मृत्यु एक आकस्मिक घटना के कारण हुई । वे घोड़े की दुलत्तियों के आघात से ऐसे घायल हुए कि प्राणान्त हो गया । उनकी देह के अवशेष एक स्तूप में रख दिये गये । यह स्तूप साम्य-विहार की पहाड़ी के एक शिखर पर स्थापित किया गया था । यह स्तूप साढ़े ग्यारह सौ वर्ष तक अक्षुण्ण रहा । इसके पश्चात् आज से लगभग ५०-५५ वर्ष पहले यह जीर्ण-शीर्ण स्तूप टूट गया और शान्त-रक्षित के

देहावशेष (हड्डियाँ) नीचे गिर पड़े। ये देहावशेष विशेषत: शान्त-रक्षित की खोपड़ी, उनके पात्र और चीवर आदि साम्य-विहार में सुरक्षित रूप से रख दिये गये, जिनके दर्शन के लिये दूर-दूर से बौद्ध धर्मी आते रहे और दर्शन करके अपने आपको धन्य मानते रहे।



: १२ :

कमल शील

जिस जमाने में शान्त-रक्षित तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रचार कर रहे थे, वहाँ एक चीनी बौद्ध भिक्षु शून्य-वाद फैला रहा था। उस चीनी भिक्षु का नाम था ह्वां-संग। शान्त रक्षित ने शून्य-वाद के प्रवाह को रोकने के लिये नालन्दा से कमल-शील को बुलवा भेजा। उन दिनों नालन्दा विश्वविद्यालय सर्वास्ति-वाद और माध्यमिक सम्प्रदाय का प्रबल केन्द्र बना हुआ था। कमल शील इस सम्प्रदाय के एक प्रमुख आचार्य थे।

शान्त रक्षित का निमन्त्रण मिलने पर कमलशील तिब्बत पहुँच गये। वे साम्य विहार में शान्त-रक्षित के साथ रहने लगे। शून्यवाद के प्रभाव का निराकरण करने के लिये आवश्यक था कि उसके प्रचारक चीनी भिक्षु ह्वां-संग को शास्त्रीय क्षेत्र में परास्त किया जाता। इस उद्देश्य के लिये शास्त्रार्थ की व्यवस्था की गयी। तिब्बत के राजा ने ह्वाँ-संग को शास्त्रार्थ के लिये मैदान में आने का निमन्त्रण दिया। ह्वां-संग ने यह चुनौती स्वीकार कर ली और शास्त्रार्थ का दिन व समय निश्चित हो गया।

तिब्बत के राजा ने एक विराट् सभा का आयोजन किया। उसमें विद्वानों के अतिरिक्त जन-साधारण भी भारी संख्या में उपस्थित हुए। स्वयं राजा भी उस सभा में पधारे। शास्त्रार्थ

आरंभ हुआ। एक ओर शून्य-वादी चीनी भिक्षु ह्वां-संग था और दूसरी तरफ थे सर्वास्ति-वाद के भारतीय पण्डित कमल शील। दोनों शास्त्र-महारथी अपने अपने शास्त्रीय युक्ति-प्रमाणों के पैने शरों से एक दूसरे पर आक्रमण करने लगे। तुमुल वाग्युद्ध आरंभ हो गया। अन्त में कमलशील के अकाट्य प्रमाण-शस्त्रास्त्रों की ताब न लाकर ह्वां-संग भरी सभा में पराजय स्वीकार करके मौन हो गया। कहा जाता है कि शास्त्रार्थ के पश्चात् चीनी भिक्षु ह्वां-संग ने कमल शील को मैत्री-भाव से विजय-माला पहनाई। उस समय तिब्बत की जनता ने हर्षोन्मत होकर कमल शील की जय के उद्घोष से सारे वायु-मण्डल को मुखरित कर दिया।

इस शानदार विजय से सारे तिब्बत में कमल शील की धूम मच गयी। लोग उन्हें साक्षात् बुद्ध का अवतार मानकर पूजने लगे। किसी को मालूम न था कि इस व्यापक श्रद्धा और पूजा क दामन में कहीं कुत्सित प्रवृत्ति भी छिप छिप कर घात लगाए बैठी थी। ह्वां-संग की पराजय के कारण उनके अनुयायियों में भंयकर विक्षोभ जाग उठा था। उन्होंने गुप्त रूप से कमल शील के विरुद्ध षड़यन्त्र रचा और एक दिन रात के अंधेरे में उन अत्यन्त प्रतिभा-शाली मनीषी को कत्ल कर दिया। कमलशील की दारुण हत्या से तिब्बत के लोगों ने बड़ा दुःख मनाया और अपूर्व सम्मान पूर्वक उनकी अंत्येष्टि क्रिया सम्पन्न की। उनके चीवर, पात्र और धातु आदि की चीज़ें साम्य-विहार में सुरक्षित रूप में रख दी गयीं, जो आज तक वहाँ विद्यमान हैं।

कमल शील की नृशंस हत्या का समाचार पाकर तिब्बत के श्रेष्ठ संन्यासी 'ग्सल्-स्नङ्' (ज्ञानेन्द्र) के मन पर इतना गहरा आघात लगा कि उन्होंने अनशन करके अपने प्राण त्याग दिये।

वास्तव में ज्ञानेन्द्र को ऐसा आघात पहुँचना स्वाभाविक बात थी, क्योंकि उन्हीं के प्रयत्नों और प्रेरणा से तिब्बत के राजा ने शान्त रक्षित आदि विद्वानों को तिब्बत बुलाया था। उनमें से कमलशील ने तिब्बत के न केवल जनसाधारण के अविद्या-अंधकार से ग्रस्त मन ही को अपने ज्ञानालोक से जगमगा दिया था, प्रत्युत उसकी भूमि को भी अपने रक्त से सींचकर अपने त्याग की प्रेरणा-दायक अमिट छाप लगा दी थी। उन्होंने कुछ मूल्यवान ग्रन्थ भी लिखे, जिनके नाम ये हैं—(१) आर्य सप्तशतीक प्रज्ञापारमिता टीका (२) आर्य वज्रकाचिदिक प्रज्ञापारमिता टीका (३) प्रज्ञापारमित हृदयमय नाम (४) न्याय बिन्दु पूर्वारसामसीवत्य और (५) शान्तरक्षित द्वारा लिखित 'तत्त्वसंग्रह' की टीका। यह मूल ग्रन्थ और टीका-ग्रन्थ दोनों बड़ौदा की गायकवाड़ औरियण्टल सीरीज़ में मुद्रित हो चुके हैं।



: १३ :

प्रभाकर मित्र

सातवीं शताब्दी ईसवी के प्रथम भाग में चीन में 'थाङ्ग' वंश का तूती बोलने लगा। यह पराक्रमशाली राजवंश लगभग १०वीं शताब्दी तक निष्कंटक भाव से राज करता रहा। इस लम्बे समय तक चीन में शान्ति स्थापित रही। फलस्वरूप इस युग में चीनियों ने साहित्य, धर्म, शिल्पकला आदि में पर्याप्त उन्नति प्राप्त की। बौद्ध धर्म का भी बहुत प्रसार हुआ और भारत तथा चीन के मध्य सम्बन्ध सुदृढ़ हो गये। अनेक भारतीय विद्वानों ने चीन की यात्रा की और वहाँ निवास भी ग्रहण किया। उन विद्वानों में से बहुतों ने बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद चीनी भाषा में किया। इस प्रकार उन्होंने वहाँ ज्ञान-प्रसार के सराहनीय काम किये।

थाङ्ग-युग के आरंभ में भारत के नालन्दा विश्वविद्यालय के एक विख्यात अध्यापक भी चीन देश की यात्रा के लिये गये। उनका नाम था 'प्रभाकर मित्र'। वे नालन्दा में महायान-बौद्ध शास्त्रों के आचार्य थे।

प्रभाकर मित्र मध्य-भारत के एक अभिजात वंश की सन्तान थे। उन्होंने छोटी ही आयु में बौद्ध-धर्म ग्रहण कर लिया था। वे बहुत मेधावी पुरुष थे। नालन्दा-विश्वविद्यालय में रह कर उन्होंने उच्च शिक्षा प्राप्त की और बाद में वहीं आचार्य

नियुक्त हो गये। उनके मन में ज्ञान-प्रसार एवं बुद्ध-वाणी के प्रचार के लिये एक अदम्य लग्न थी—भड़कती अग्निशिखा के समान तड़पती हुई लग्न। इस लग्न ने उनके कार्य-क्षेत्र को केवल नालन्दा-विश्वविद्यालय की परिधि के भीतर ही सीमित न रहने दिया, प्रत्युत देश-विदेश-व्यापी बना दिया। उनका साहस-पूत सक्रिय जीवन मानव-कल्याण की उमंगों से भर उठा। उनके पर्यटन-शील पग परमार्थ की ऊबड़-खाबड़, संकट-पूर्ण और बीहड़ राहों पर चलते-चलते देश की तुषार-मण्डित शैल-शृंखला-संकुलित सीमा को लाँघकर तिब्बत पहुँचे। तिब्बत और अन्य नाना देशों से गुजरते हुए अन्त में प्रतीच्य तुर्कसितान की राजधानी में पहुँचे।

उन दिनों मध्य एशिया के शूलिक देश (समरकन्द) के उत्तर में जो देश अवस्थित थे, वे ईसा की छटी शताब्दी में तुर्की जाति के कब्जे में आ गये थे। सातवीं शताब्दी में जब ह्यूनसांग का इस रास्ते से गुजर हुआ, तब तुर्की लोग दो भागों में विभक्त थे—प्राच्य और प्रतीच्य। प्रतीच्य तुर्कों अर्थात् प्राच्य तुर्कसितान की राजधानी ताशकन्द के उत्तर में थियेन-शान् पर्वत के पाददेश में अवस्थित थी। ह्यूनसांग के कथनानुसार उस समय वे तुर्क थे अग्नि-उपासक और उनके अधिपति खान्खानान (=याव् गु-का गान) बौद्ध धर्म और भारतीय सभ्यता के प्रति कोई आकर्षण नहीं रखते थे।

किन्तु ह्यूनसांग के इस देश से चले जाने के थोड़े ही समय के पश्चात् प्रभाकर मित्र प्राच्य तुर्कसितान पहुँचे थे। उनके साथ दस शिष्य भी थे। उनके आगमन का समाचार पा कर तुर्क अधिनायक खान्खानान ने उनका और उनके शिष्यों का यथायोग्य स्वागत-सम्मान किया एवं ठहरने की व्यवस्था कर दी। प्रभाकर मित्र के साथ वार्तालाप करते समय खान्खानान

उनके सौम्य, शान्त और ओजस्वी व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित हुए। 'प्रभाकर मित्र' ने अपने सदुपदेश और ज्ञानगर्भित विचारों से उनके हृदय और मस्तिष्क को एक नये जीवन की आनन्द-रश्मियों से परिपूरित कर दिया। तुर्क शासक 'खान् खानान' ने इनके विचारों से उद्बुद्ध होकर बौद्ध धर्म को समादरपूर्वक हृदयंगम कर लिया। इस प्रकार 'प्रभाकर मित्र' ही ने तुर्कों में सबसे पहले बौद्ध-धर्म का प्रचार किया। संभवत: इसी समय तुर्की भाषा में बौद्ध शास्त्रों का अनुवाद आरंभ हुआ।

प्रभाकर मित्र के अद्भुत परमार्थ-शील व्यक्तित्व की यश-गाथा चीन के सम्राट् के कानों तक भी पहुँच गयी और वे इनके दर्शन की अभिलाषा से उत्सुक हो उठे। उन्होंने तुर्क अधिनायक खान-खानान् से प्रभाकर मित्र को चीन भेजने के लिये अनुरोध किया। इस अनुरोध के अनुसार प्रभाकर मित्र ने चीन-देश के लिये प्रस्थान किया। इस प्रकार उन्हें तुर्की राजधानी में अधिक समय रहने का अवसर न मिला। वे ६२७ ई० में चीन की राजधानी चाङ्ग-आन शहर में पहुँचे। वहाँ उनका यथोचित स्वागत हुआ और उनके निवास के लिये वहाँ के बौद्ध विहार में व्यवस्था कर दी गयी। वहाँ रह कर उन्होंने जनता में बौद्ध धर्म का खूब प्रचार किया और सम्राट् के आदेश से कई धर्म-ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद भी किया। उनके अनुवादित ग्रन्थों में प्रधान उल्लेखनीय ग्रन्थ है असंग का 'महायान सूत्रालंकार।' लगभग सात वर्ष उन्होंने चीन में व्यतीत किये और लोक-कल्याण तथा ज्ञान प्रसार के लिये सराहनीय कार्य किया। इसके पश्चात् ६३३ ई० में चीन ही में उन्होंने महा-प्रयाण किया। उस सयम उनकी आयु ६९ वर्ष थी। कहा जाता है कि चीन पहुँचने से पहले उन्होंने तिब्बत की यात्रा भी की थी और वहाँ बौद्ध धर्म के प्रचार-कार्य में सहयोग दिया था।○

: १४ :

बोधि रुचि

सातवीं शताब्दी के मध्य भाग में नाना राजनीतिक भीषण प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण मध्य एशिया के रास्ते से चीन देश में जाना और वहाँ से आना अत्यन्त विपद-संकुल हो गया था। उस रास्ते से यात्रियों का जीते-जी अपनी किसी भी मंज़िल तक पहुँच जाना असंभव हो गया था। भारतीय धर्म-दूतों एवं संस्कृति-वाहकों के लिये चीन जाने को यह मार्ग बन्द हो गया। परन्तु इससे उन परमार्थ-जीवी भारतीय मनीषियों की परमार्थ-साधना और लोक-कल्याण की भावना में कोई अन्तर न पड़ा। अब उन्होंने समुद्र-पथ से चीन आदि देशों की यात्रा आरंभ कर दी, हालाँकि समुद्र-पथ भी कोई कम संकट-भरा नहीं था। फ़र्क केवल यह था कि इस पथ में उन्हें प्रकृति-जन्य विघ्न-विपत्तियों का सामना था और उस पथ में मानवीय रक्तरंजित राजनीति-जनित संकटों के साथ जूझना था। उन्होंने इन जघन्य मानवीय अत्याचारों के स्थान पर प्रकृति की परीक्षाओं में से गुजरना अच्छा समझा।

इस दौर में समुद्र-पथ से जो भारतीय पण्डित चीन गये, उनमें से 'बोधि रुचि' का नाम उल्लेखनीय है। उनका माँ-बाप का दिया हुआ नाम था 'धर्म-रुचि', परन्तु जब वे चीन गये, तो

वहाँ की महारानी 'वु-त्सो-थिएन' ('Wu-tso-thien ६८४-७०५ ई०) के आदेश से उनका नाम बदल कर 'बोधि-रुचि' अथवा 'चिआओ-अई' (ciao-ai) रख दिया गया, जिसका अर्थ है 'बुद्धिप्रिय' अथवा बोधि-रुचि ।

बोधि-रुचि का जन्म दक्षिण भारत के एक काश्यप गोत्री ब्राह्मण-परिवार में हुआ था । चीन के ऐतिहासिक विवरणों से पता चलता है कि अपनी पढ़ाई के ज़माने में बोधि-रुचि ने ज्योतिष, चिकित्सा, भूगोल और अध्यात्मविद्या आदि शास्त्रों का अध्ययन किया । उन्होंने १२ वर्ष की आयु में महायान बौद्ध धर्माव लम्बी 'यशोघोष' नामक बौद्ध-भिक्षु से बौद्ध धर्म की दीक्षा ले ली थी । यशोघोष ने उनकी असाधारण प्रतिभा और गुणों को देखकर बौद्ध-साधना की भी शिक्षा दी । बोधि रुचि केवल तीन ही वर्षों में बौद्ध त्रिपिटक के ज्ञाता हो गये थे। सातवीं शताब्दी के अंतिम चरण में वे दक्षिण भारत के एक विख्यात् पण्डित समझे जाते थे ।

६८२ ई० में चीन देश से एक चीनी राजदूत दक्षिण भारत के चालूक्य राजा के पास आया । उस राजदूत के विशेष अनुरोध से बोधिरुचि ने चीन जाने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया । ऐतिहासिक विवरणों से मालूम होता है कि ६९२ ई० में चालूक्य राजा ने बौद्ध-भिक्षुओं का एक दल चोन भेजा था । संभवतः उसी दल के साथ बोधि रुचि भी गये थे । उनकी यात्रा समुद्र-पथ से आरंभ हुई । उस जमाने में समुद्र की यात्रा आज की भाँति निरापद न थी और न ही आज के ऐसे तीव्रगामी तथा विश्वस्त यात्रा-साधन या जलपोत थे । फिर भी वे परम धर्मवीर और उद्भट परमार्थ साधक पुरुष जाने किन किन अकथनीय विपद-आपदों और प्राणहारी विघ्न-बाधाओं को झेलते हुए एक दिन चीन के तट पर जा उतरे ।

इस प्रकार ६९३ ई० में बोधि रुचि चीन की राजधानी में पहुँचे। चीन के सम्राट् ने उनका भव्य-स्वागत किया और उनके रहने-सहने की यथोचित व्यवस्था कर दी। वे चीन के उत्तर और दक्षिण—दोनों भागों में घूमे फिरे तथा कुछ समय रहे भी। सम्राट् के अनुरोध से उन्होंने बौद्ध-शास्त्रों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। जिन ग्रन्थों का उन्होंने असाधारण परिश्रम से अनुवाद किया, उनकी संख्या लगभग ५६ बतायी जाती है। उनमें से एक ग्रन्थ 'महारत्न कूट सूत्र' ही के एक सौ बीस परिच्छेद थे, जिसका अनुवाद उन्हों ने किया।

उन दिनों चीन में और भी अनेक बौद्ध पण्डित तथा द्विभाषी विद्वान् रहते थे। उन्हें अनुवाद-कार्य में बोधि रुचि की सहायता के लिये नियुक्त कर दिया गया।

भारतवर्ष के मध्य-प्रदेशीय राजदूत ब्राह्मण भिक्षु चन्द, ब्राह्मण रोमोदन (लिउ-छान) तथा अन्य कई पण्डितों ने बोधि-रुचि को अनुवाद कार्य में सहयोग दिया। संस्कृतज्ञ चीनी भिक्षुओं ने भी इस कार्य में उनका हाथ बटाया।

७०६ ई० में चीन-सम्राट् के साथ बोधि रुचि चीन के उत्तर प्रदेश के 'चाङ्ग-आन' नगर में भी गये और वहाँ रह कर उन्होंने कई ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। वहाँ भी इस कार्य में द्विभाषियों ने उन्हें सहायता दी। उन सहायकों में से पूर्वी भारत के एक राज-पुत्र ईश्वर, उत्तर भारत के बौद्ध भिक्षु 'धर्म' एवं दक्षिण भारत के 'प्रज्ञागुप्त' के नाम विशेषतः उल्लेखनीय है।

७२७ ई० में बोधि रुचि बहुत बूढ़े हो गये थे। इस अवस्था में भी वे धर्म एवं परमार्थ के कामों में लगे रहे। इस प्रकार काम करते हुए ही चीन में उनका देहावसान हुआ। उस समय उनकी आयु एक सौ छप्पन वर्ष की थी। जितना समय वे चीन

रहे, निरन्तर बौद्ध संस्कृत-ग्रन्थों का अनुवाद चीनी भाषा में करते रहे।

तिआंग (Tiang) शासकों के ज़माने में बौद्ध धर्म को बड़ा प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। इससे लाभ उठाते हुए बोधि रुचि और युआन चुआंग जैसे विद्वानों ने, उन बौद्ध संस्कृत-ग्रन्थों का, जो वे भारत से चीन ले गये थे, आज़ादी से अनुवाद किया। ६९३ ई० से ७१३ ई० तक बोधि रुचि ने तिरेपन ग्रन्थों का अनुवाद किया। उस अनुवाद की एक सौ ग्यारह जिल्दें बनी थीं। उनमें से बारह तो ७३० ई० ही में दुर्लभ हो गयी थीं।

यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि बोधि रुचि नाम के दो विद्वान हुए थे, जिन्होंने चीन में बौद्ध धर्म और साहित्य का प्रचार किया था। वे दोनों ही अद्वितीय विद्वान् थे। उनमें से एक बोधि रुचि ने तो त,आंग (T,ang) वंश के संरक्षण में काम किया और दूसरे बोधि रुचि को, जो 'दश भूमिक' सम्प्रदाय के संस्थापक थे, वेइ (Wei) वंश का संरक्षण प्राप्त था। यद्यपि प्रथमोक्त बोधि रुचि किसी सम्प्रदाय के संस्थापक अथवा प्रवर्तक नहीं थे, परन्तु वे बौद्ध ग्रंथों के सबसे बड़े अनुवादक के रूप में विख्यात थे। उनके सबसे अधिक प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण अनुवाद निम्नलिखित हैं—

१. प्रज्ञा पारमिता-अर्ध-शतिका (Shih-sian-pan-jo-po-lo-mi-cin)
२. महारत्नकूट-सूत्र (Ta-pao-tsi-cin)
३. अमितायुष-व्यूह (Wu-lian-shen-ju-lai-hwni)
४. समन्त मुख परिवर्त (Wan-shu-sh-li-phu-man-hwni)
५. विनयविनिश्चय-उपालि-परिप्रच्छा (Yiu-po-li-hwui)
६. मैत्रेय-परिप्रच्छा (Mi-lo-phu-sa-su-wan-hwui)
७. महायानवज्र-चूड़ामणि-बोधिसत्त्व-चर्या-वर्ग-सूत्र (Ta-

shan-cin-kan-ci-cu-phu-sa-stu-hhin-fan-cin

८. रत्न मेघ-सूत्र (Fo-shwo-pao-yu-cin)

९. महायान सूत्र (Ta-shan-cie-ye-shan-tin-cin.

१०. मञ्जुश्री रत्न-गर्भधारिणी सूत्र (Wan-shu-sh-li-pao-tsan-tho-lo-ni-cin.

उन्होंने महायानी ग्रन्थ 'रत्नकूट' का जो अनुवाद किया था, वह सबसे अधिक प्रसिद्ध है। मूल ग्रन्थ भारतवर्ष से ह्यू न सांग ले गये थे। इस ग्रंथ का अनुवाद आरंभ करने के थोड़े ही समय के पश्चात् बोधि रुचि का देहान्त हो गया।



: १५ :

बोधिसेन

भारत के जो संस्कृति-दूत प्राचीनकाल ही से नाना विदेशों की यात्रा के लिये जाते रहे, उनमें केवल धर्मशास्त्रविद् व अध्यात्मज्ञ ही शामिल नहीं होते थे, अपितु उनके साथ अनेकानेक ललितकला-विद्—संगीतज्ञ, ज्योतिषाचार्य, आयुर्वेद-विशेषज्ञ, मूर्त्तिकार एवं चित्रकार आदि भी हुआ करते थे। कई धर्मशास्त्री तो स्वयं भी अन्य कई विद्याओं के पण्डित हुआ करते थे। एक समय था कि ऐसे परम त्यागी और पुरुषार्थी मनीषियों ने इधर भारत से लेकर मध्य-एशिया, चीन, कोरिया और जापान, तथा उधर बर्मा, हिन्द-चीन, सिंहलद्वीप, हिन्दएशिया-मलाया, जावा सुमात्रा आदि दक्षिण-पूर्वी द्वीप-पुंज तक समस्त देशों में भारतीय धर्ममत के अतिरिक्त अन्य अनेक भारतीय विद्याओं को फैला दिया था। उस समय ऐसा मालूम होता था कि ये सब देश यद्यपि शासन-व्यवस्था की दृष्टि से भारत के अधीनस्थ नहीं थे, तो भी भारत के संस्कृति-गत उपनिवेश अवश्य थे।

• कोरिया में भारतीय संस्कृति का प्रवेश

जापान में भारतीय संस्कृति ने कब और कैसे प्रवेश लाभ किया?—इस तत्त्व की खोज करने पर पता चलता है कि

पहले ३७४ ई० में चीन से बौद्ध धर्म के माध्यम से भारतीय संस्कृति ने कोरिया में प्रवेश किया। उत्तर चीन से दो आचार्य आताउ और शानताउ कोरिया की राजधानी में आमन्त्रित किये गये। फिर दस वर्ष के पश्चात् मतनन्द नामक एक प्रसिद्ध विद्वान मध्य कोरिया की महासभा में शामिल होने के लिये पैकचाई पहुँचे। और भी कई भारतीय भिक्षु वहाँ गये।

ईसा की पाँचवीं शताब्दी में बौद्ध धर्म का प्रचार दक्षिण कोरिया तक फैल चुका था। कृष्ण विदेशी नामक एक और भारतीय संन्यासी वहाँ पहुँचे और उन्होंने 'तृरत्न' का प्रचार किया। वे केवल धर्मशास्त्र ही के अद्वितीय विद्वान् न थे, आयुर्वेद के भी अपूर्व ज्ञाता थे। उन्होंने कोरिया के सिल्लर राज्य की राजकुमारी को अपने चिकित्सा नैपुण्य से एक असाध्य रोग से मुक्ति दिलाई। 'कृष्ण विदेशी' का वास्तविक नाम क्या था, यह कोरिया के लोगों को मालूम न था, इस लिये विदेशी और भारतीय होने के कारण 'कृष्ण विदेशी' कहलाये। उनकी विशेष प्रसिद्धि हिन्दू आयुर्वेद-विद्या में पारगति के कारण हुई।

जापान में भारतीय संस्कृति का श्रीगणेश

ईसा की छठी शताब्दी के मध्य कोरिया के सम्राट् और साम्राज्ञी ने भारतीय संस्कृति में दीक्षित हो कर भिक्षुत्व ग्रहण कर लिया। उनके प्रयत्न से ५५१ ई० में कोरिया में एक बौद्ध धर्म महामण्डल की स्थापना हुई। इससे विदित है कि उस ज़माने में कोरिया में भारतीय संस्कृति का कितना गहरा प्रभाव जम गया था। इसी प्रभाव के कारण कोरिया ने (५७८ ई० में) जापान में वहाँ के लोगों के प्रति मैत्री के भाव प्रकट करने के लिये बुद्ध भगवान की स्वर्ण-प्रतिमा, कई धर्म ग्रंथ तथा कई

सुन्दर चित्र-युक्त पताकाएं जापान की राजसभा में भेंट कीं। इस प्रकार जापान में सबसे पहले बौद्ध धर्म की चर्चा आरंभ करने का श्रेय कोरिया ही को पहुँचा।

जापान निवासी प्राचीन विचार के लोगों ने बौद्ध धर्म की प्रतिष्ठा के विरुद्ध विद्रोह किया। इन लोगों के विद्रोह ने जितना ज़ोर मारा नवीन बौद्ध धर्मानुयायियों ने उतनी ही प्रबलता से उसका सामना किया। आख़िर ५८७ ई० में विरोधियों के पतन के साथ राजकुमार उमयद्रू व शोतुक ने बौद्ध धर्म को राष्ट्र-धर्म का स्थान देकर ग्रहण कर लिया और प्रचार को बहुत प्रोत्साहन दिया।

जापान में ज्योतिष और आयुर्वेद के लिये कोरिया से कई भारतीय आचार्य आमन्त्रित किये गये। कई जापानी विद्यार्थियों को चीन भेजा गया। जापान के निमन्त्रण पर बौद्ध भिक्षुओं, आचार्यों के साथ साथ कई कलाविद्, शिल्पी और विश्व-प्रेमी वैद्य भी भारतीय सभ्यता की ध्वजा लहराने जापान पहुँचे। उनके प्रयत्न व प्रेरण से देश में जहाँ जहाँ नवीन धर्म की प्रतिष्ठा हुई, वहाँ वहाँ आरोग्यशालाओं, विद्या-मन्दिरों, विराट् चित्र-शालाओं की स्थापना तथा मूर्त्ति-शिल्प की विशेष उन्नति हुई।

आचार्य बोधिसेन की प्रतिष्ठा

आठवीं शताब्दी (७३६ ई०) में एक महा-मनीषी भारतीय ब्राह्मण-वंशोद्भव भारद्वाज गोत्रीय आचार्य बोधि सेन ने जापान में पदार्पण किया। वह इससे पहले चम्पा और चीन की यात्रा कर चुके थे तथा इन देशों में भारतीय संस्कृति, शिक्षा और ज्ञान के प्रसार व प्रचार को नयी दिशा दे आये थे। चीन में उन्होंने एक भारतीय संस्कृत-ग्रन्थ का अनुवाद भी चीनी

भाषा में किया था। अब जापान में उनके साथ अपने चम्पा के और चीन के शिष्यों का एक दल भी था। उनके इन शिष्यों में कई प्रसिद्ध शिल्पी और संगीतज्ञ भी थे। उन्होंने भारतीय वीणा तथा अन्यान्य वाद्ययन्त्रों का ख़ूब प्रचार किया। इसके निदर्शन भारतीय पद्धति के अनेक प्रस्तर-चित्रों के रूप में आज भी जापान की चित्रशालाओं में सुरक्षित हैं।

आचार्य बोधि सेन की प्रतिभा से जापान का राजवंश इतना प्रभावित हुआ कि उन्हें प्रधान धर्माचार्य के पद पर प्रतिष्ठित किया। वे ७६० ई० तक इस उच्चपद पर आरूढ़ रहे और सर्वत्र 'ब्राह्मणाचार्य' नाम से प्रसिद्ध हुए।

ईसा की आठवीं शताब्दी में जापान में बौद्ध धर्म को चरम उत्कर्ष प्राप्त हुआ। यह समय 'नारायुग' के नाम से प्रसिद्ध हुआ और जापान के लिये गौरवमय युग कहलाया। इस युग में जापान के बौद्ध सम्राट् 'नारा' नामक स्थान (क्योटो से कुछ मील दूर) पर अपनी राजसभा किया करते थे। वहाँ बड़े-बड़े बौद्ध मन्दिर मूर्त्तियाँ अब भी जापान में शिल्प के गौरवमय आरंभ के निदर्शन के रूप में मौजूद हैं। इस दौर में जापान में सर्वत्र बौद्ध धर्म संघ की प्रतिष्ठा हुई तथा बौद्ध धर्म की दीक्षा का प्रवाह उमड़ पड़ा। इस प्रवाह के माध्यम से भारतीय संस्कृति, कला, शिल्प और दर्शन का खूब प्रचार हुआ।

ईसा की तेरहवीं शताब्दी में चीन से बुद्ध भद्र और बोधि धर्म द्वारा प्रवर्त्तित ध्यान तत्त्व सम्प्रदाय भी जापान में आ पहुँचा। जापान की युद्धजीवी जाति ने इस सम्प्रदाय को अपनाया। इधर जब भारतवर्ष अपनी संकीर्ण गृह-समस्याओं में व्यस्त-चित्त होकर अपने उस बृहत्तर कार्य—कोरिया और जापान में संस्कृति व ज्ञान-विस्तार के आदर्श—को भूल चुका

था, उस समय जापान के मन्दिर-मन्दिर में बड़े समारोह के साथ अमिताभ बुद्ध भगवान की पूजा हुआ करती थी और भारतीय आचार्य पिंदोल भारद्वाज की मूर्त्ति मन्दिर मन्दिर में अंकित की जाती थी।



: १६ :

अमोघ वज्र

चीन में तान्त्रिक बौद्ध मत के व्यापक प्रचार के श्रेय में अमोघ वज्र को भो पर्याप्त भाग प्राप्त है। वे वज्रबोधि के प्रधान शिष्य थे। उनका जन्म सिंहल में एक उत्तर भारतीय ब्राह्मण परिवार में हुआ। वे अभी दस वर्ष ही के हुए थे कि अपने एक आत्मीय वन्धु के साथ दक्षिण-पूर्व एशिया के उपनिवेशों में चले गये। उस ज़माने में भारत को छोड़ कर संसार के अन्य किसी देश के दस-वर्षीय बालक ने घर से बाहर कदम रख कर इतनी भयंकर और लम्बी समुद्री यात्रा की हो, ऐसी मिसाल चिराग लेकर ढूँडे से भी नहीं मिलेगी।

आज का यूरोप और अमरीका, जो अपनी भौतिक जागृति एवं वैज्ञानिक उन्नति के घमण्ड में आकर भारत पर चिर असभ्य, अविद्याग्रस्त, आलसी, प्रमादी, कुएं का मेंढ़क होने का मिथ्या दोषारोपण करने की धृष्टता से लज्जित नहीं होते, उस जमाने में अवनति की अत्यन्त गहरी नारकीय खाई के भीतर जघन्य असभ्यता, अविद्या एवं पशुता-पद-दलित जीवन व्यतीत कर रहे थे। परन्तु उस समय केवल भारत ही को यह पुरुषार्थ-जनित सामर्थ्य उपलब्ध थी कि उसके परम साहसवान् प्रौढ़ विद्वान मनीषी तो क्या, दस-दस-वर्षीय सुकुमार बालक भी सिर पर कफन बाँधे और हाथ में जाज्वल्यमान ज्ञान-वार्त्तिका लिये

संसार से अविद्या एवं असभ्यता के घटाटोप अंधकार को मिटा डालने की खातिर दूर-दूर विदेशों में गये और जाते रहे हजारों बरस तक। उनके अजेय संकल्प के सामने समुद्र के प्राण-हारी क्षुब्ध तरंग-रेलों व ध्वंसकारी तूफानों के थपेड़े पुष्प-प्रहार तथा उसकी विभीषिकापूर्ण असीम विस्तृतियाँ सिमट कर रेखा सी बनके रह जाती थीं, गगन-भेदी गर्वोन्नत-भाल शैल-शृंखल उनके चरणों में दण्डवत् प्रणामी की भाँति लेट जाते थे और दुर्लंघ्य गहन-गंभीर खाइयाँ अपने किनारों के सिर जोड़ कर उनके मार्ग में पुल का रूप ग्रहण कर लेती थीं। इस प्रकार कोई भी विघ्न-बाधा उन महान् परमार्थ-पराक्रमी संस्कृति-दूतों के सामने खड़ी नहीं हो सकती थी।

अमोघ वज्र समस्त विपत्ति-विघ्नों पर विजय पाते हुए दक्षिण पूर्व-एशिया के उपनिवेशों में पहुँच गये। १५ वर्ष की आयु में उन्होंने वज्रबोधि से बौद्ध धर्म की दीक्षा ले ली और अपना सारा जीवन मानव-कल्याण के लिये अर्पित कर दिया। कुछ समय वे उक्त उपनिवेशों में रहे। इसके पश्चात् उन्होंने फिर एक लम्बी यात्रा के लिये कमर कस ली। वे अपने गुरु के साथ चीन की ओर चल पड़े। सन् ७२४ में वे दोनों चीन के नगर 'लो-इयाङ' पहुँच गये। वहाँ उन्होंने 'कूयाङ-फो-स' नामक मन्दिर में डेरा डाल दिया। इस मन्दिर में वे सन् ७३१ तक जन-कल्याण अथवा धर्म-प्रचार का काम करते रहे।

इस प्रकार ७१८ से ७३२ ई० तक वे अपने गुरु वज्रबोधि के साथ मिल कर काम करते रहे। ७३२ ई० में वज्रबोधि का देहावासान हो गया। इस के पश्चात् अमोघवज्र संस्कृत पुस्तकों की खोज के लिये सिंहल द्वीप लौट आये। इस यात्रा पर उन्हें एक वर्ष लग गया। सिंहल द्वीप आ कर उन्होंने वहाँ के दन्त-विहार में डेरा डाला और ७४६ ई० तक यह विहार उनका

प्रधान कार्यालय बना रहा। इस अवधि में उन्होंने संस्कृत ग्रंथों के संग्रह के उद्देश्य से भारत की यात्रा भी की।

इस प्रकार दौड़-धूप से उन्होंने लगभग ५०० संस्कृत-बौद्ध-ग्रंथों का संग्रह किया। यह अमूल्य ग्रन्थ-राशि लेकर वे सिंहल द्वीप से चीन जाने वाले राज-दूतों के साथ फिर चीन रवाना हो गये। ७४६ ई० में वे पुन: चीन पहुँच गये। अब इन ग्रन्थों का अनुवाद चीनी भाषा में करने में जुट गये। वे वज्रयान तांत्रिक बौद्ध मत के अनुयायी थे, जिस के प्रधान आचार्य उनके गुरु थे। अमोघ वज्र ने इस नये सम्प्रदाय का खूब प्रचार किया। वे 'लो-इ-याङ' 'होशी', 'लियाङ चौ' आदि बहुत से स्थानों पर रहे और तांत्रिक मत का प्रचार करते रहे। उनके लगभग एक शताब्दी के पश्चात् उनके तथा शुभाकर सिंह के द्वारा चीन में प्रतिपादित मन्त्र-सम्प्रदाय का बीजारोपण जापान में भी हो गया।

आखिर ७७४ ई० में चीन ही में उनका देहान्त हुआ। चीन में रह कर उन्होंने जिन ग्रन्थों का अनुवाद किया उनमें से उनके अनुवादित ७७ ग्रन्थ आज भी पाये जाते हैं।

अमोघ वज्र की मृत्यु के पश्चात् भारतवर्ष के साथ चीन के सम्बन्ध शिथिल हो गये। इसके प्रधान कारणों में एक तो चीन देश की राजनीतिक अवस्था की विषमता अथवा अनिश्चितता थी, दूसरा कारण भारत में भी छोटी-छोटी रियासतों का आपस में दीर्घ कालव्यापी युद्ध-विग्रह था। इसके साथ बौद्ध धर्म की अवनति भी एक तीसरा कारण था।

○

: १७ :

पद्म सम्भव

अन्य अनेक भारतीय विदेश-यात्रियों की भांति 'पद्म संभव' के विषय में भी कोई जानकारी भारतीय साहित्य से नहीं मिलती। केवल तिब्बतीय साहित्य से यह पता चलता है कि 'पद्मसंभव' 'लंकापुर (उड़ीसा) के एक राजघराने के सुपूत थे। उनके पिता का नाम 'इन्द्र मूर्त्ति' था। पद्मसम्भव का विवाह 'कुमारदेवी' नामक एक सुशीला गुणवती कन्या से हुआ था।

एक अन्य प्राचीन विवरण के अनुसार पद्मसंभव का जन्म ज़होर (वर्तमान सुकेत-मण्डी, हिमाचल प्रदेश) के राजघराने में हुआ था।[1] उनके पिता का नाम था 'इन्द्र बोधि'। सिक्किम का वर्तमान राज-कुल 'नमग्याल' (Namgyal) भी अपने पूर्वजों की लड़ी उसी जहोर-नरेश से मिलता है और यह विचित्र देव-योग की बात है कि पूर्वी हिमालय राज्य के नाम की व्युत्पत्ति भी 'सुक्किम' (सुखम) शब्द से हुई है, जिसका अर्थ भी वही है जो 'सुकेत' का है - अर्थात् सुख, शान्ति और आनन्द। पद्मम सम्भव की पूजा भी सिक्किम में उसी प्रकार होती है, जिस प्रकार रिवाल सर में, जो मण्डी और सुकेत के मध्यस्थल में अवस्थित है, होती है।[2]

---

1. 2. "Suket and Mandi, Were Peace is" by Kala Mathrani.

The Hindustan Times, Weekly Sunday 28th. June 1970.

यह विश्वास किया जाता है कि शरीर का त्याग करते समय बुद्ध देव ने भविष्यवाणी की थी कि 'तांत्रिक बौद्ध धर्म के प्रचार का विशेष उद्देश्य लेकर वे पद्म सम्भव के रूप में मानव-गर्भ से मुक्त रहकर पुनः जन्म लेंगे। कहा जाता है कि राजा इन्द्र बोधि ने पद्म संभव को एक झील में खिले हुए पद्म के मध्य बच्चे के रूप में पाया था।

इन्द्र बोधि ने राजकुमार पद्म संभव का बड़े यत्न से पालन-पोषण किया। बचपन ही से पद्म संभव ने अपनी असाधारण मेधा-शक्ति का परिचय देना आरंभ कर दिया था। उन्होंने किशोर अवस्था ही में खेलों में और संगीत, काव्य, दर्शन आदि में पारंगति प्राप्त कर ली। उनका विवाह बड़ी धूमधाम से रचाया गया। पत्नी कुमारदेवी जहाँ रूप लावण्य में अद्वितीय थी, वहाँ गुण और शील में भी निरुपम थी। परन्तु पद्मसम्भव का वास्तविक व्यक्तित्व—अन्तर-पुरुष—सासांरिक विषय-विलास की मायावी पकड़ में आने वाला नहीं था। इसलिये वे बुद्धदेव की भाँति राजमहल, अपनी पत्नी और समस्त राजसी सुखानन्द—सब कुछ छोड़-छाड़ कर चले गये, एक भिक्षु की तरह दुःख-शोक और नाना यातनाओं की परीक्षाग्नि में से गुजरने के लिये। उन्होंने काश्मीर से बंगाल तक समस्त भारत के बड़े-बड़े समाधि-स्थलों की यात्रा की तथा निवास भी ग्रहण किया।

पद्म संभव ने नालन्दा विश्वविद्यालय में उच्च शास्त्र-शिक्षा प्राप्त की और अपनी अद्भुत योग्यता एवं साधना के प्रभाव से उसी विश्वविद्यालय में तंत्र-विभाग के प्रमुख आचार्य नियुक्त हो गये। उनकी गुह्य अथवा रहस्यपूर्ण आत्मिक शक्तियों, औषध विज्ञान या वैद्यक-शास्त्र में परम सिद्धि, जादूगरी (इन्द्रजाल), ज्योतिष-विद्या में निपुणता और तर्क-सामर्थ्य व

बड़ी तेजी से स्थिति बदलने की क्षमता को देखकर लोग उन्हें दानव समझते थे। इसलिये उन्होंने बनारस और नालन्दा के पण्डितों से यौगिक एवं धार्मिक शिक्षा ग्रहण की ताकि वे अध्यात्मिक पथ-प्रदर्शन की योग्यता से सम्पन्न हो जाएँ। वे सब भाषाओं में निपुण थे एवं भारत, नेपाल, भूटान, सिक्किम, चीन और ईरान की यात्राओं के दौरान सब जगह आसानी से अपने विचारों का प्रचार लोगों में कर सकते थे।

तिब्बत-यात्रा

पद्म संभव ने अपना सारा जीवन प्राणि मात्र के कल्याण में खपा दिया। केवल मनुष्यों ही को नहीं, अपितु देवताओं, दानवों, पिशाचों और निम्न लोक के अधिवासियों को भी शिक्षा दी। समस्त प्राणियों व चेतन जीवों को दुःखों से मुक्ति दिलाने के लिये कोई कसर उठा न रखी। इस उद्देश्य के लिये स्थितियों के अनुसार वे निरन्तर अपने आप को नाना रूपों में बदलते रहते थे। इसीलिये उनके आठ विभिन्न शारीरिक रूपों की पूजा होती है।

जिन दिनों शान्तरक्षित तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रचार कर रहे थे, उन दिनों वहाँ के भूत-प्रेत-पूजकों ने तिब्बत-राज तथा बौद्ध धर्म के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। फलस्वरूप शान्तरक्षित को तिब्बत छोड़कर नेपाल लौट आना पड़ा। विद्रोह शान्त होने के पश्चात् तिब्बतराज के निमन्त्रण पर जब शान्त-रक्षित पुनः तिब्बत जाने लगे, तो नालन्दा से पद्म सम्भव को भी बुला लिया।

अब वे दोनों मिल कर तिब्बत पहुँचे। पद्मसम्भव तन्त्र शास्त्र के अद्वितीय पण्डित थे और अद्भुत तांत्रिक-शक्तियों से सम्पन्न। उनके प्रभाव से तिब्बत के भूत-प्रेत-पूज़कों को पुनः विद्रोह करने

का साहस न हुआ। शान्त-रक्षित के उपदेशों से तिब्बत में जहाँ बौद्ध धर्म की जड़ें सुदृढ़ हो गयीं और पढ़े-लिखे लोग उनके अनुयायी बन गये, वहाँ भूत-प्रेतों में विश्वास रखने वाले साधारण लोगों में पद्मसम्भव की तन्त्र-विद्या तथा विचित्र तांत्रिक सिद्धियों के प्रति विशेष आकर्षण पैदा हो गया। पद्म-सम्भव के तन्त्र-विद्या-प्रचार के कारण तिब्बत में तान्त्रिक-वाद और बौद्ध-वाद के समन्वय से बौद्ध धर्म ने एक नया रूप ग्रहण कर लिया। उस नये रूप के कारण ही तिब्बत में लामा-धर्म की नींव पड़ी, जो आज तक वहाँ का प्रमुख धर्म है।

इतनी बड़ी क्रांति पद्मसम्भव ही के दम से उद्‌भव हुई। इसीलिये तिब्बतियों के निकट पद्मसम्भव एक महान् मुक्ति-दाता देव थे, क्योंकि उन्होंने तिब्बत-वासियों को उनके आदि-कालीन असभ्य भूत-प्रेतात्मक धर्म एवं नाना भद्दे अनुष्ठानों व रीतियों के चंगुल से मुक्ति दिलायी। उनको आध्यात्मिक व सामाजिक संस्कृति की असंभावित ऊँचाइयों के द्योतक लामा-बुौद्ध धर्म प्रदान किया। उन्होंने एक ग्रन्थ भी लिखा, जिसका नाम है, साम्ययन-कासिक। इसका अनुवाद भिक्षु आनन्द ने किया था।

तिब्बत में पद्म सम्भव को देवता का स्थान मिला। वहाँ के लगों ने उनकी पूजा की और करते चले आ रहे हैं। उनका जो चित्र तिब्बत में मिला है, उसमें वे अपने दायें हाथ में वज्र और बायें हाथ में खोपड़ी लिये हुए दिखाये गये हैं। इसके अतिरिक्त उनकी दोनों ओर दो रमणियाँ माँस और मदिरा अर्पित करती हुई दिखायी गयी हैं। इससे संभवतः यह बताया गया है कि वे इतने यति व संयमी पुरुष थे कि माँस-मदिरा का सेवन और स्त्रियों की मौजूदगी उनके आध्यात्मिक आचरण तथा साधना को तनिक भी विचलित नहीं कर सकतेथे।

रिवालवर के बौद्ध मठ में भी पद्म संभव की एक मूर्त्ति स्थापित है। रिवालसर राजाओं की झील है, जहाँ कभी सात पर्वतीय राज्यों की सीमाएं मिलती थीं। उसके किनारे पत्थरों के चबूतरों से युक्त बहुत सुन्दर लगते हैं। वह अत्यन्त सुन्दर पालतू मछलियों से भरी है। तिब्बती बौद्धों का दृढ़ विश्वास है कि झील के पानी में तैरते हुए सरहरी के द्वीप में पद्मसम्भव का आत्मा बसा हुआ है।

यहाँ तिब्बतियों के लाल समाधि-मन्दिर के आंगन में तिब्बती अध्ययन और अभ्यास का विद्यालय है और एक मण्डप है, जहाँ त्यौहार-उत्सवों के दौरान घी जलाया जाता है।

इस समाधि मन्दिर में पद्मसम्भव की जो मूर्त्ति स्थापित है, उसमें उनकी मूछें दिखाई गयी हैं, सिर पर कमल की टोपी और जहोर के राजा के राजसी वस्त्र पहने हुए हैं, दाहिने हाथ में डोरजे (Dorje अर्थात् वज्र) शोभित है, जिससे इन्द्र के वज्र की भांति उनका अजेय शासन अथवा राजत्व प्रकट किया गया है। उनके दूसरे हाथ में संसार-त्याग रूपी मानव-खप्पर का भिक्षा-पात्र—अमृत से भरा है, जो उनके अमर जीवन का द्योतक है। उनके वक्षस्थल के वायें भाग पर विशेष चिह्न के रूप में विराजित खट्वांग समस्त पापों के नाश करने वाला जादू-शास्त्र है। यह मूर्त्ति शिव की भाँति एक त्रिशूल, एक खप्पर, दो सिर, एक जल-पात्र और विजय ध्वजों से सज्जित दोहरे वज्र से, जो अध्यात्मिक-शक्ति का प्रतीक है, शोभित है।

यह समाधि मन्दिर या बौद्ध मठ पद्मसम्भव के जमाने में केवल धार्मिक केन्द्र ही नहीं था, प्रत्युत इससे कला, शिक्षा और संस्कृति के प्रकाश से सारा प्रदेश दीप्यमान होता था। अनेक बौद्ध बिद्वान् ८वीं शताब्दी के उन महान् गुरु की इस लीला भूमि

की यात्रा करने आते थे और उनसे बहुत कुछ सीखते तथा ज्ञान प्राप्त करते थे। अब यह स्थान केवल तिब्बती बौद्धों का तीर्थ स्थान बनकर रह गया है और उनके निकट उन महान् गुरु की मूर्त्ति उस महान् देवता का प्रतीक है, जो तीनों लोकों के प्राणीमात्र को सुख और आनन्द की ओर ले जाता है।

○

: १८ :

अतीश दीपंकर श्रीज्ञान

"बंगाली अतीश लङ्घिल गिरि तुषारे भयंकर,
ज्वालिल ज्ञानेर दीप, तिब्बते बङ्गाली दीपंकर।"

—सत्येन्द्रनाथ दत्त।

भारत प्रकृत स्वरूप में सदा शान्ति-प्रिय देश रहा है। इसने किसी अन्य देश या राज्य के विरुद्ध अकारण आक्रमण केवल अपनी सीमाएं या ऐश्वर्य बढ़ाने के लिये कभी नहीं किया। इसके विपरीत विश्व-मानव-कल्याण एवं ज्ञान प्रसार के लिये परमार्थी भारतीय पण्डितगण प्राणों की बाजी लगा कर अन्य निकट एवं सुदूरवर्ती विदेशों की यात्रा करते रहे हैं और वहाँ समाज के उत्थान-कार्य में संलग्न रहे हैं। उनका यह मानव-कल्याण तथा ज्ञान-प्रसार-यज्ञ ऐसे दुर्दिनों और विकट परिस्थितियों में भी जारी रहा, जबकि स्वयं उनके देश पर विदेशी आततायी लुटेरे शासक आक्रमण कर रहे थे। अतीश दीपंकर श्रीज्ञान उन्हीं परम मानव-हितकारी विद्वानों में से एक थे। वे उस जमाने में विश्व-निषिद्ध दुगर्म देश तिब्बत में जाकर वहां के अविद्या-ग्रस्त जन-समाज के उत्थान के लिये आजीवन प्रयत्नशील रहे, जब उनके अपने प्यारे देश को ध्वस्त करने के दुर्भाव से ग़जनी का लुटेरा शासक महमूद बारबार पिटकर भी जघन्य ढिठाई के साथ आक्रमण करने से बाज नहीं आ रहा था।

फिर उस जमाने में जबकि आज के ऐसे सुरक्षित सुव्यवस्थित सुखद, द्रुतगति वैज्ञानिक यातायात-साधनों की गंध तक न थी, ७० वर्षीय बूढ़े दीपंकर ने हिमालय की गगन-चुम्भी, तुषार-मण्डित चोटियों, दुर्लंघ्य घाटियों, खूँखार हिंस्र जन्तुओं से पटे हुए जंगलों, अत्यन्त ऊबड़खाड़ रास्तों और भयंकर नदी-नालों को कैसे पार कर लिया होगा—इस बात की कल्पना मात्र ही से मानव-हृदय काँप-काँप उठता है। परन्तु अतीश दीपंकर इन समस्त विघ्न-विपत्तियों पर विजय प्राप्त करते हुए अपनी मंजिल पर पहुँच गये थे।

जन्म

श्रीज्ञान दीपंकर किसी साधारण कुल के सुपूत न थे। उनके पिता कल्याणश्री बहुत वैभव-शाली सम्मानित ब्राह्मण और अपने प्रदेश के राजा थे। उनकी माता प्रभावती अनुपम सौंदर्यश्री एवं दिव्य गुणों की शाश्वत प्रभा का सार्थक प्रतीक थीं। यद्यपि बंगाली विद्वान् बड़े गौरव से श्रीज्ञान दीपंकर को बंगाल का सुपूत कहते हैं और उनके मतानुसार दीपंकर का जन्म पूर्वी बंगाल के विक्रमणीपुर परगणा के वज्रयोगिनी गाँव में हुआ था, परन्तु अन्य विद्वानों का कहना है कि उनका जन्म विक्रमी संवत् १०३९ (९८२ ई०) में इत्सिंग के सहपाठी शान्ति रक्षित के गाँव 'सहोर' (भागल पुर,—बिहार) में हुआ था। परम्परा के अनुसार दीपंकर के जन्म पर उनके पिता कल्याणश्री पूजा के लिये पाँच सौ रथों के जुलूस के साथ विक्रमशिला विहार में गये थे। कल्याण श्री की राजधानी इसी विक्रमशिला विहार के दक्षिण में अवस्थित थी।

राजा कल्याण श्री के तीन बेटे थे—पद्म गर्भ, चन्द्र गर्भ और श्री गर्भ। चन्द्र गर्भ बचपन ही से बहुत होशियार था। वह

तीन ही वर्ष की आयु में पाठशाला जाने लग गया था और ग्यारह वर्ष की आयु में संस्कृत भाषा का पूर्ण ज्ञाता हो गया था।

एक दिन वह घूमता-फिरता एक निकटवर्ती आश्रम में जा निकला। यह आश्रम प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान 'जेतारि' का था। अवधूत जेतारि ने चन्द्र गर्भ के चेहरे पर तेजस्विता की अद्भुत झलक देखी और उससे परिचय पूछा। चन्द्रगर्भ ने अपना परिचय देते हुए ज़रा गौरव-पूर्वक कह दिया कि वह राजा का सुपुत्र है। फिर क्या था, अवधूत जेतारि कुछ क्षुब्ध-से हो उठे और बोले, "तुम राजा के सुपुत्र हो, तो यहाँ किस लिये चले आये हो ? यहाँ कोई राजा, प्रजा नहीं होता। किनारा करो। साधु के आश्रम से तुम्हें क्या लेना-देना ?"

चन्द्र गर्भ के अहम् पर करारी चोट पड़ी। बहुत पेच-व-ताब खाये उसने मन ही मन में, परन्तु महात्मा जेतारि का बिगाड़ ही क्या सकता था। वे कोई साधारण सन्त तो थे नहीं, जो किसी से दब के रह जाते। उनके त्याग, तपस्या और सिद्धि के सामने एक जमाना झुकता था, भला चन्द्र गर्भ की क्या बिसात थी वहाँ। इसलिये चन्द्र गर्भ को तुरन्त अपनी भूल और महात्मा जेतारि की बातों के महत्त्वपूर्ण रहस्य का ज्ञान हो गया। उसने अपनी भूल के लिये क्षमा माँगी और उनसे प्रार्थना की कि वे उसे विद्यार्थी के रूप में अपने चरणों में स्थान दें।

चन्द्र गर्भ के इस भाव से अवधूत जेतारि बहुत मुग्ध हो गये और एक श्रद्धालु योग्य-पात्र समझ कर प्रार्थना स्वीकार कर ली। इस प्रकार उसकी शास्त्रीय शिक्षा का श्रीगणेश हुआ। इसके पश्चात् महात्मा जेतारि ने चन्द्रगर्भ को उच्च शिक्षा के लिये नालन्दा भिजवा दिया।

शिक्षा

चन्द्र गर्भ माता-पिता से आज्ञा लेकर नालन्दा के लिये रवाना हुआ, तो पिता ने उसके साथ कुछ नौकर-चाकर भी भेज दिये। इन नौकर-चाकरों के साथ चन्द्रगर्भ नालन्दा पहुँचा। यह देख कर वहाँ के राजा ने आश्चर्य प्रकट किया और उससे नालन्दा आने का कारण पूछा। चन्द्र गर्भ ने बताया कि वह नालंदा विश्वविद्यालय में शिक्षा पाना चाहता है।

राजा ने फिर प्रश्न किया, "तुम अपने पड़ोस का विहार विक्रम-शिला छोड़ कर यहाँ किस लिये चले आये हो?"

चन्द्रगर्भ ने उत्तर दिया, "गुरु जेतारि जी की आज्ञा के अनुसार ही मैं यहाँ आया हूँ। इस पर राजा ने उसे विश्वविद्यालय में प्रविष्ट किये जाने की सिफ़ारिश कर दी।

उस समय चन्द्रगर्भ की आयु केवल बारह वर्ष की थी। विश्वविद्यालय के नियम के अनुसार बीस वर्ष से कम आयु के किसी व्यक्ति को 'उपसम्पदा' (भिक्षुत्व) नहीं दी जाती थी। इसलिये चन्द्र गर्भ को प्रतीक्षा करनी पड़ी। किन्तु चन्द्रगर्भ की अद्‌भुत प्रतिभा देख कर तथा उसे अवधूत जेतारि का भेजा हुआ जान कर नालन्दा के प्रधानाचार्य 'बोद्धिभद्र' ने उसे श्रमण की दीक्षा देकर अपने पास रख लिया और उसे केसरिया वस्त्र पहनवा दिये।

कुछ समय के बाद बोधिभद्र अपने प्रिय शिष्य को अपने गुरु मैत्री गुप्त के पास ले गये। वे अभी जीवित थे और राजगृह में रहते थे। उन्होंने परम सिद्धि प्राप्त कर ली थी, इसलिये अब वे 'मैत्री-पा' 'अद्वय वज्र' अथवा 'अवधूति पा' (द) आदि नामों से सर्वत्र-विख्यात थे। बोधि भद्र ने अपने गुरु से प्रार्थना की कि वे चन्द्रगर्भ को अपने पास रख कर उत्तम शिक्षा प्रदान करें।

चन्द्र गर्भ को एक योग्य पात्र देख कर मैत्री-पा ने उसे अपने पास रख कर शिक्षा देना स्वीकार कर लिया। चन्द्रगर्भ ने अपने सेवा-भाव द्वारा उन्हें प्रसन्न करके बौद्ध धर्म-ग्रन्थों का विधिवत विशद अध्ययन किया।

उन दिनों बौद्ध समाज में मंत्रयान और वज्रयान का बहुत प्रचार था। इन दोनों यानों के ग्रन्थों का अध्ययन करने के लिये चन्द्रगर्भ विश्व-श्रुत सिद्ध नारोपा के पास चले गये। उनके पास पढ़ने के लिये विदेशों से भी अनेक लोग आया करते थे और वे 'नाड्पाद', 'नरोत्तम पाद', 'नारोपा' अथवा 'नरोपन्त' आदि नामों से भी प्रसिद्ध थे।

इस प्रकार चन्द्र गर्भ ने अपने घर, नालन्दा, राजगृह, विक्रमशिला आदि शिक्षाकेन्द्रों में रह कर बड़े परिश्रम से विशाल संस्कृत शास्त्र तथा बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन किया। वह धुरंधर विद्वान हो गया और चारों ओर उसकी ख्याति फैल गयी। फिर भी उसका ध्यान बोध गया के वज्रासन महाविहार की ओर आकर्षित हुआ। कारण ?—जब तक कोई विद्वान इस विहार में रह कर बौद्ध धर्म ग्रन्थों का गंभीर अध्ययन नहीं कर लेता था, उसकी पूरी प्रतिष्ठा बौद्ध समाज में नहीं हो पाती थी।

चन्द्र गर्भ वज्रासन-महाविहार में पहुँच गया। वहाँ उसने महा विनयधर 'शील रक्षित' से विनय ग्रन्थों का अध्ययन किया। शील-रक्षित ने उसकी विलक्षण प्रतिभा देख कर उसको 'श्रीज्ञान दीपंकर' उपाधि से सम्मानित किया।

'श्रीज्ञान दीपंकर' की उपाधि पाकर चन्द्रगर्भ की प्रतिष्ठा और ख्याति को चार चाँद लग गये। अब सभी लोग इसी सम्मानसूचक नाम से उन्हें याद करने लगे।

स्वर्ण द्वीप की यात्रा

श्रीज्ञान दीपंकर ने इकत्तीसवें वर्ष में पग रखा और भिक्षु बनकर विक्रमशिला विहार में रहना शुरू कर दिया। वहाँ उनकी गिनती प्रधान पण्डितों में होने लगी। लेकिन ज्ञानार्जन की लगन को अभी संतोष प्राप्त नहीं हुआ था। इसलिये कुछ ही समय के पश्चात् वे स्वर्ण द्वीप (सुमात्रा) चले गये। उन दिनों स्वर्ण द्वीप बौद्ध धर्म का एक विशेष प्रसिद्ध केन्द्र था। वहाँ के बौद्धाचार्य दर्शन-शास्त्रों के अद्वितीय पण्डित थे। नाम था उनका धर्मपाल। कुछ विद्वान उनका नाम चन्द्र-कीर्ति बताते हैं। वे भारतीय पण्डित थे और विक्रमशिला विहार के अध्यक्ष ने उन्हें स्वर्णद्वीप भेजा था। धर्मपाल के शिष्यों में एक 'रत्नाकर शान्ति' नामक प्रसिद्ध सिद्ध भी था। ज्ञानश्री (न्याय अर्थात् तर्क शास्त्र के विद्वान) राजकीर्ति ने भी उनसे शिक्षा पाई थी। उन्हीं ज्ञानश्री के मुँह से दीपंकर श्रीज्ञान ने धर्मपाल के यश की बातें सुनीं और स्वर्ण द्वीप पहुँच गये। वहाँ कई वर्ष रहकर उन्होंने दर्शन-शास्त्रों का अध्ययन-मनन और चिन्तन किया। इसके पश्चात् वे लंका चले गये।

इस प्रकार बारह वर्ष तक प्रवास करके श्रीज्ञान दीपंकर फिर अपने गाँव 'सहोर' लौट आये। उस समय मगध-राज्य शासन की बागडोर पाल राजा महीपाल के हाथ में थी। राजा ने उन्हें विक्रमशिला विश्वविद्यालय का प्रधानाचार्य नियुक्त कर दिया।

विक्रमशिला विहार

यहाँ विक्रमशिला विश्वविद्यालय के विषय में भी कुछ जानकारी प्रस्तुत कर देना उचित एवं रुचिकर होगा। यह बिहार प्रदेश के भागलपुर जिले में 'कहल' गाँव के आस-पास

गंगा-तट पर अवस्थित था। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने, जब वे अभी युवराज थे, सुलतान गंज की दोनों पहाड़ी टेकरियों पर कुछ मन्दिर बनवाये थे। उन्हीं के नाम पर उस स्थान का नाम विक्रमशिला पड़ गया था। बाद को पाल-वंशीय महाराज धर्मपाल ने अपने शासनकाल ७६६ से ८०६ ई० के दौरान किसी समय गंगा-तटवर्ती इस मनोरम स्थान को एक शिक्षा-विहार में परिणत कर दिया था।

दसवीं शताब्दी में यह विश्वविद्यालय नालन्दा विश्वविद्यालय से भी बड़ा और समस्त भारत के महत्तर शिक्षा-केन्द्र की हैसोयत ग्रहण कर गया था। इसके चारों ओर ऊँची-ऊँची दृढ़ चार-दीवारी खड़ी थी और मध्य में शिक्षा-केन्द्र अवस्थित था। सारे विश्वविद्यालय में छः विहार (कालेज) थे। शिक्षा-केन्द्र के चारों द्वारों के चार द्वार-पण्डित थे। दक्षिण द्वार के पण्डित का नाम प्रज्ञाकर मति, पूर्वी द्वार के पण्डित का 'रत्नाकर शान्ति', पश्चिमी द्वार के पण्डित का नाम 'वागीश्वर कीर्ति' तथा उत्तरी द्वार के पण्डित का नाम 'नरोपन्त' था।

उन द्वारों से प्रवेश करके आगे दो ड्योढ़ियाँ पड़ती थीं, जिनमें से गुजर कर ही शिक्षा-केन्द्र में पहुँचा जा सकता था। इन ड्योढ़ियों में दो दिग्गज विद्वान् नियुक्त थे, जिनके प्रश्नों के उत्तर दिये बिना कोई भी व्यक्ति विश्वविद्यालय में प्रवेश की अनुमति नहीं पा सकता था। पहली ड्योढ़ी के पण्डित का नाम 'रत्न वज्र' था। वे प्रसिद्ध बौद्ध संन्यासी थे और दूसरी ड्योढ़ी के पण्डित भिक्षु 'ज्ञानश्री मित्र' थे।

विश्वविद्यालय में एक सुविशाल सभा-भवन भी था, जिसमें एक साथ आठ हजार लोग बैठ सकते थे। विद्यार्थियों के आवास और भोजन की निःशुल्क व्यवस्था थी। इस व्यवस्था के चलाने के लिये पाल-राजाओं ने विश्वविद्यालय के नाम बड़ी-बड़ी

जागीरें लगा रखी थीं। यह विश्वविद्यालय 'मंत्रयान' और 'वज्रयान' सम्प्रदायों का मुख्य शिक्षा-केन्द्र था। इसलिये इसके मुख्य केन्द्र द्वार पर एक ओर महायान के प्रवर्तक भिक्षु 'नागार्जुन' की मूर्ति और दूसरी ओर इस सम्प्रदाय के तात्कालिक अनुयायी विश्वविद्यालय के प्राचार्य 'श्रीज्ञान दीपंकर अतीश' की मूर्ति स्थापित थी।

शिक्षा-केन्द्र के द्वार के निकट ही एक सर्व-सुविधा-सम्पन्न धर्मशाला भी थी, जिसमें बाहर से आने वाले अतिथि विश्राम करते थे। नालन्दा विश्वविद्यालय की भाँति यहाँ भी वेद, वेदांग, उपवेद, हेतुविद्या, सांख्य-योग दर्शनों तथा बौद्धों के हीन और महायान के ग्रन्थों का अध्ययन व अध्यापन होता था। किन्तु इसकी एक विशेषता यह थी कि यहाँ तन्त्र-शास्त्र के अध्ययन के लिये भी समुचित प्रबन्ध था। यहाँ से जो छात्र उत्तीर्ण हो कर निकलता था, राजा की ओर से उसे 'पण्डित' की उपाधि मिलती थी। नालन्दा विश्वविद्यालय की भाँति यहाँ के विद्यार्थी भी राजकीय उच्च पदों पर नियुक्त होते थे।

इतने बड़े विश्वविद्यालय के प्रधानाचार्य का पद प्राप्त होने पर श्रीज्ञान दीपंकर की प्रतिष्ठा इतनी बढ़ गयी कि देश के ऋषियों में गिने जाने लगे। रंक से राजा तक उनसे प्रभावित थे। एक ऐतिहासिक घटना से इसका एक बड़ा स्पष्ट प्रमाण मिलता है।

'डाहला' के राजा गांगेयदेव के पुत्र कर्ण ने एक बार (१०४१ ई० में) मगध पर आक्रमण कर दिया। मगधराज नयपाल की सेनाएं भी युद्ध के लिये मैदान में उतर पड़ीं। भयानक रक्तपात का भय पैदा हो गया। इस कठिन अवसर पर दीपंकर श्रीज्ञान ने दोनों राजाओं को बुला कर समझाया कि 'इस समय जब देश के सीमान्त पर तुर्कों का आतंक फै

रहा है, तुम लोगों का आपस में लड़ना कहाँ तक उचित है ? इस प्रकार उनके समझाने-बुझाने से दोनों राजाओं में संधि हो गयी और भयानक रक्त-पात से देश बच गया।

तिब्बत-राज का निमन्त्रण

९वीं शताब्दी में तिब्बत का राजकुमार णि-मा-गोन (Ni-Ma-Gon) पश्चिम की ओर बढ़ा और एक नया राज्य स्थापित किया। उसकी मृत्यु के पश्चात् यह राज्य तीन भागों में बाँटा गया। एक भाग उसके बेटे 'लदे-चुग-गोन' (Lde-chug-gon) को मिला। राजा को बौद्ध-धर्म के प्रति इतनी श्रद्धा थी कि उसका एक दूसरा पुत्र भिक्षु बन गया और ज्ञान-प्रभ नाम से पुकारा जाने लगा। उन दिनों तिब्बत में राज-भिक्षुओं या साधुओं को देव-गुरु या लामा कहा जाता था और शासन की बागडोर भी उन्हीं के हाथ में होती थी। ज्ञानप्रभ का प्रधान राजपीठ थेलिंग नगर था।

ज्ञानप्रभ पढ़ लिख कर बड़े विद्वान हो गये थे। वे तिब्बत में बौद्ध धर्म के परिमार्जन और संस्कार के लिये प्रयत्न-शील थे। उन दिनों वहाँ तन्त्रवाद का खूब जोर था। इसकी आड़ में कई बुराइयाँ भी समाज में फैल गयी थीं। उन्होंने अनुभव किया कि 'इन बुराइयों का सामना करना कोई सरल काम नहीं और न ही अकेले आदमी के बस की बात है। अतः उन्होंने २१ मेधावी तिब्बती नौजवानों को चुना और पहले दस वर्ष तक अपने देश में पढ़ाया तथा बाद को उच्च शिक्षा के लिये काश्मीर भेज दिया। परन्तु उनमें से कोई भी नौजवान काश्मीर के जलवायु को न सहार सका और केवल दो नौजवानों—रत्नप्रभ तथा सुप्रभ—को छोड़ कर शेष सभी काश्मीर में मर गये।

रत्नप्रभ जब अच्छा-खासा विद्वान बनकर अपने देश लौटा,

तो देव गुरु ज्ञानप्रभ को बहुत हर्ष हुआ, परन्तु सुधार का काम इतना कठिन था कि उसकी सहायता से भी सफलता न मिली। तब ज्ञानप्रभ ने सोचा कि इस काम के लिये भारत से विद्वानों को मंगाया जाय। इस बीच में उन्होंने पश्चिमी तिब्बत के विद्यार्थियों से, जो भारत के विहारों से पढ़ कर लौटे थे, श्रीज्ञान दीपंकर के यश की बातें सुनीं। उन्होंने विद्वानों का एक दल दीपंकर को अपने यहाँ ले आने के लिये भेजा। वह दल इस उद्देश्य में विफल होकर लौट गया। परन्तु इस बात से ज्ञान प्रभ हताश न हुए। उन्होंने अपने भाई वीर्यचन्द्र के नेतृत्व में एक और दल भेजने का निश्चय किया। अब उनके सामने धन के अभाव की समस्या खड़ी हो गयी। इस समस्य के समाधान के लिये सोना संग्रह करने के उद्देश्य से वे 'गर्तोंग' प्रान्त में गये।

गर्तोंग प्रान्त मानसरोवर झील के पश्चिम में अवस्थित है। वहाँ सोने की एक खान थी। ज्ञान प्रभ जब उस क्षेत्र में पहुँचे, तो गर्तोंग के राजा ने उन्हें पकड़ कर बन्दिगृह में डाल दिया ताकि उनके छुड़ाने वालों से भारी रकम वसूल की जाय।

ज्ञानप्रभ के पकड़े जाने की सूचना जब उनके बेटे बोधि प्रभ (व्यंग-छुब-ओद) को मिली, तो उन्हें छुड़ा लाने के लिये धन लेकर गर्तोंग के राजा के पास गया, परन्तु वह धन राजा की माँग से बहुत कम था। वह और भी धन लाने के लिये लौट जाने से पहले बन्दि-गृह में अपने पिता से मिला। उसके पिता ने कहा—

"बेटा! मुझे छुड़ाने के लिये तुम्हें इतनी धन-राशि देने की आवश्यकता नहीं। मैं बूढ़ा हो गया हूँ। यदि इतनी जल्दी नहीं, तो एक वर्ष तक अवश्य इस संसार से कूच कर जाऊँगा।

इसलिये मैं नहीं चाहता कि मुझ मरणोन्मुख व्यक्ति को बचाने के साधारण से उद्देश्य के लिये तुम एक महान् उद्देश्य की उपेक्षा करो। यदि तुमने इतना धन मुझे छुड़ाने पर खर्च कर दिया, तो भारत से विद्वानों के लाने का काम रह जायगा। उस काम का महत्त्व और उद्देश्य मेरे जीवन के बुझते हुए दीप से बहुत अधिक है और जन-कल्याण के परमार्थ से सम्बन्ध रखता है। फिर मैं यह भी अनुभव करता हूँ कि इतनी बड़ी धनराशि लेकर भी राजा मुझे छोड़ेगा नहीं। इसलिये विशेष दूत के नेतृत्व में विद्वानों का दल साविलम्ब भारत भेजो। बस यही मेरी आज्ञा और अंतिम इच्छा है।"

ज्ञानप्रभ ने अपने पिता की इस श्रेष्ठ आज्ञा को शिरोधारण किया और निश्चित शिष्ट-मण्डल को विक्रमशिला विहार के लिये भेज दिया।

वह शिष्ट मण्डल विक्रम-शिला पहुँचा और उचित अवसर पा कर श्रीज्ञान दीपंकर की सेवा में उपस्थित हुआ। उन्हें सादर-प्रणाम करके उनके चरणों में कुछ सोना भी भेंट किया। इसके पश्चात् अपने आने का उद्देश्य प्रकट किया। उन्होंने यह भी बताया कि इस उद्देश्य के लिये किस तरह तिब्बत के राज-भिक्षु ज्ञानप्रभ को अपने प्राणों का बलिदान करना पड़ा।

ज्ञान प्रभ के इस उत्तम बलिदान की करुण कहानी सुनकर श्रीज्ञान दीपंकर का हृदय पिघल गया और उन्होंने तिब्बत जाने का वचन देते हुए कहा कि उनके कन्धे पर विहार एवं १०८ मन्दिरों के प्रबन्ध का बोझ पड़ा है। इस उत्तरदायित्व को सौंपने तथा अन्य आवश्यक कार्यों की व्यवस्था करने में अठारह महीने लगेंगे। इसके पश्चात् वे तिब्बत जाने के लिये तय्यार हो जायँगे।

तिब्बती शिष्टमण्डल को हार्दिक संतोष मिल गया और

बड़ी उत्सुकता से महामनीषी श्रीज्ञान दीपंकर के प्रस्थान की प्रतीक्षा करने लगा ।

तिब्बत-यात्रा

श्रीज्ञान दीपंकर की आयु ७० वर्ष की थी, जब उन्होंने तिब्बत यात्रा के लिये प्रस्थान किया । उस जमाने में, फिर ऐसी वृद्धावस्था में इतनी लम्बी और दुर्गम यात्रा का साहस करना मानो मृत्यु का आह्वान करना था, परन्तु दीपंकर के बूढ़े शरीर में हृदय अब भी साहस और यौवन से पूर्ण था । परमार्थ की अजेय लग्न विद्युत की भांति उनकी रगों में दौड़ रही थी । कोई भी विघ्न-बाधा या खतरा उनके सामने टिक न सका । रास्ते में कुछ दिन के लिये वे नेपाल के स्वयं भू क्षेत्र में भी ठहरे ।

नेपाल से आगे बर्फ़ से ढके हुए पर्वतों की चढ़ाई आरंभ हुई । इन पर्वतों को लांघकर अपने साथियों के साथ तिब्बत की सीमा पर पहुँचे । अब तिब्बत-राज की राजधानी की ओर यात्रा आरंभ हुई । रास्ते में मानसरोवर का दृश्य उन्हें इतना भाया कि सात दिन तक वहीं निवास किया । मानसरोवर के पश्चिमी प्रदेश के थोगलिङ विहार में आपने 'बोधि-पथ-प्रदीप' नामक ग्रन्थ की रचना की । उस प्रदेश का राजा चान-चुव सम्मान और अभ्यर्थना के लिये स्वयं उनके सामने उपस्थित हुआ । लामा और राजधानी के संभ्रांत व्यक्तियों के समूह ने खड़े होकर उनका अभिवादन किया । जँपो नामक एक लामा बहुत बूढ़ा और दुर्बल होने के कारण उठकर खड़ा नहीं हो सकता था, परन्तु जब उसने श्रीज्ञान दीपंकर का परिचय प्राप्त किया, तो उसने भी जैसे-तैसे उठकर उनके प्रति सम्मान का प्रदर्शन किया ।

इसके पश्चात् दीपंकर अपने साथियों के सहित तिब्बत की

राजधानी में पहुँचे। वहाँ राजा की ओर से उनकी अगवानी व स्वागत जिस ठाठबाठ तथा श्रद्धा-भक्ति के साथ किया गया, उसका वर्णन शब्दों में नहीं हो सकता। स्वागत-कर्त्ताओं में सबसे आगे एकसौ घुड़सवार थे। उनके घोड़ों का रंग सफेद, उनकी वेशभूषा भी सफेद। उनके पास छोटे-छोटे झण्डे और सफेद रंग के कई छाते भी थे। उनमें एक फौजी बैंड अर्थात् वाद्य-यंत्रों से सज्जित एक वाद्यकर दल भी था। घुड़सवार व वाद्यकर चार सेनापतियों की देख रेख में सुव्यवस्थित ढंग से चल रहे थे। वाद्य बज रहे थे और "ओम् मणि पद्म हुम्" गीत-ध्वनि के द्वारा राजा की ओर से श्रीज्ञान दीपकर का अभि-वादन कर रहे थे।

इसे इतिहास की बहुत महत्त्वपूर्ण घटना समझा गया और इसकी स्मृति-रक्षा के लिये तिब्बत के एक मठ की दीवारों पर श्रीज्ञान दीपंकर के इस स्वागत-अभिवादन के दृश्य का चित्र अंकित किया गया। श्रीज्ञान दीपंकर के साथ उस समय राजा भूमिसिंह, पण्डित परिहित भद्र, वीर्यचन्द्र जैसे प्रतिष्ठित मनीषियों के अतिरिक्त विक्रमशिला के लगभग ३१-३२ अन्य विद्वान भी थे।

राजा के प्रतिनिधि 'नारि-रसो-सुम्-पने' ने श्रीज्ञान दीपंकर को जहाँ स्वयं अपने हाथों से तिब्बती चाय का प्याला पिलाया, वहाँ कुछ सोना भी भेंट किया। दीपंकर के जीवन में यह पहला अवसर था कि जब उन्होंने चाय पी।

इस अवसर पर तिब्बत के सेनापति ने उपस्थित विराट् जन-समूह के सामने भाषण करते हुए दीपंकर को सम्बोधित करके कहा—

"हे भारत के सर्वश्रेष्ठ पण्डित! इस देश में आपका शुभ आगमन किसी देवता के आगमन से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

आपने हम पर यह जो कृपा की है, इसके लिये हम सम्पूर्ण तिब्बत-निवासी आपके कृतज्ञ हैं। सारा तिब्बत हर प्रकार से आपकी आज्ञा का पालन करेगा। आपके लिये हम सब कुछ न्योछावर कर देंगे।"

श्रीज्ञान दीपंकर की शोभा-यात्रा के समय जनसमूह उनके दर्शन के लिये उमड़ पड़ा। दीपंकर घोड़े पर सवार थे और जन-समूह को दर्शन देने के लिये योग-बल से कभी-कभी घोड़े की पीठ से कई हाथ ऊपर उठ जाते थे। उन्हें राजा के अतिथि के रूप में लिन-सेर-ग्यी-ल्-खड़' विहार में ठहराया गया। राजा की ओर से उन्हें 'अतीश' —सर्वश्रेष्ठ—की उपाधि से सम्मानित किया गया।

श्रीज्ञान दीपंकर अतीश ने १३ वर्ष तक तिब्बत में अपने साथियों के साथ विद्या और ज्ञान का प्रचार किया। उनकी शिक्षा और उपदेशों के प्रभाव से तिब्बत के बौद्ध धर्म में नयी जीवन-धारा संचारित हो गयी। उन्होंने तिब्बत-समाज से कुरीतियों और अविद्या-जनित रूढ़ियों और तांत्रिक कुविचारों के दूर करने के लिये अपूर्व काम किया।

उन्होंने महायान मत का विशेष प्रचार किया। वे अच्छी तरह से जानते थे कि तिब्बती लोग विशुद्ध महायान मत के अधिकारी नहीं, क्योंकि उस समय वे लोग अनेक देवताओं व दानवों की पूजा किया करते थे। इसलिये अतीश ने अच्छे-अच्छे भारतीय संस्कृत-ग्रन्थों का अनुवाद तिब्बती भाषा में किया। अनेक पूजा-पद्धतियाँ और स्रोत आदि की रचना की। उनके जमाने में दो सौ भारतीय ग्रन्थों का अनुवाद किया गया। अतीश दीपंकर ने स्वयं जिन ग्रन्थों का अनुवाद तथा रचना की, उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं—

(१) बोधि-पथ-प्रदीप (२) चर्या-संग्रह-प्रतीप (३) सत्य-

वहार (४) मध्यमोपदेश (५) संग्रह मर्म (६) बोधि सत्त्व-मन्यावलि (७) हृदय-निश्चित् (८) बोधि सत्त्वकर्मादि-मार्गावतार (९) शरणागत देश (१०) महायान-पथ-साधन-वर्ण-संग्रह (११) महायान-पथ-साधन संग्रह (१२) सूत्र-रथ-समुच्चयोप देश (१३) दशकुशल-कर्मोप देश (१४) कर्म-विभंग (१५) संधि-संवर-परिवर्त्त (१६) लोकोत्तर सप्तक विधि (१७) गुरु क्रिया कर्म (१८) चित्रोत्पाद-संवर-विधि कर्म (१९) शिक्षा-समुच्चयाभि समय (२०) विमल रत्नलेखन' आदि। अंतिम पुस्तक राजा नयपाल के नाम लिखा एक वृहत पत्र है।

विद्वानों का यह मत है कि तिब्बती लोगों में आज जो कुछ बुद्धि, विद्या, सभ्यता पाई जाती है, उनका मूल कारण इन्हीं अतीश दीपंकर का पुरुषार्थ है। तिब्बती लोग उन्हें देवता के रूप में पूजते हैं।

दीपंकर अतीश ने जीवन के अंतिम १३ वर्ष तिब्बत में निरन्तर लोक कल्याण के काम करते हुए व्यतीत किये, और वहीं ल्हासा शहर के निकटवर्ती 'ङे-यंग' या 'न्येयंग' नामक नगर में निर्वाण प्राप्त किया। उनके समाधि मन्दिर का नाम है 'सेग्राम'। जिस कमरे में उनके देहावशेष पड़े हैं, उसके बाहर का भाग पीले रंग में रंजित है। इस समय वह समाधि भवन ध्वंसोन्मुख है। उसके चारों ओर बैद के वृक्ष सिर उठाय खड़े हैं।

वे लल्हासा से सोलह मील दूर पहाड़ी की एक गुफा में रहते थे। वह गुफा चीनी कम्यूनिस्टों के शासनारंभ तक तो सुरक्षित थी। उनका भिक्षा पात्र, कमण्डल और खदिर दण्ड भी एक बौद्ध मंदिर में रखे हुए थे। अबकी राम जानें।

उसके चारों ओर सूर्य की किरणों में झिलमिलाते हुए बर्फ से ढके उच्च पर्वत-शिखर, वन गुलाब की झाड़ियाँ विद्यमान थीं। यह स्थान सचमुच ही मुनियों के आश्रम के लिये उपयुक्त था।



: १६ :

स्मृति-ज्ञान

ज्ञानार्जन व विद्या प्रसार की लगन और परमार्थ-साधना में स्मृतिज्ञान की मिसाल दुर्लभ है। अपने लिये सभी जीते और अपने लिये सभी मरते हैं। अपने आत्मीय स्वजनों के लिए भी अनेक जीते और मरते हैं, लेकिन मानवमात्र के लिये निःस्वार्थ भाव से कोई विरला ही जीता और मरता है। स्मृति-ज्ञान उन्हीं विरले मनीषियों में से थे, जिनके जीवन का एक एक क्षण—एक एक श्वास मानव-कल्याण में व्यतीत हुआ। वे केवल दूसरों ही के लिये जिये और दूसरों ही के लिये मरे।

मानव-कल्याण की भावना ही उन्हें अपने प्यारे देश से विदेश ले गयी। ११वीं शताब्दी में जो भारतीय विद्वान अपने देश की उज्जवल संस्कृति, उत्कृष्ट ज्ञान और कल्याणकारी धर्म के द्वारा जन-कल्याण के लिये तिब्बत गये, उनमें स्मृतिज्ञान का नाम अग्र-गण्य है।

स्मृति ज्ञान बिहार के निवासी थे। १०३० ई० में महीपाल के शासन-काल का अन्त हुआ और नयपाल ने शासन की बाग-डोर संभाल ली। उन्हीं दिनों सूक्ष्मदीर्घ नामक एक पण्डित के साथ स्मृति ज्ञान ने तिब्बत के लिये प्रस्थान किया। उनके साथ एक दुभाषिया भी था, जो उनकी और तिब्बती, दोनों भाषाओं का यथोचित ज्ञान रखता था।

दुर्गम सुदीर्घ रास्तों पर चलते-चलते वे नेपाल पहुंच गये। वहाँ पहुँचने ही की देर थी कि दुर्भाग्यवश दुभाषिये की मृत्यु हो गयी। अब अपरिचित भाषा और अजाने लोगों के देश में जाना उनके लिये नाना कठिनाइयों और विपत्तियों को मोल लेना था, लेकिन जो लोग दूसरों के लिये जीना और दूसरों के लिये मरना चाहते हैं, उनके सामने कठिनाइयाँ और विपत्तियाँ कोई अर्थ नहीं रखतीं। स्मृति ज्ञान और उनके साथी सूक्ष्म दीर्घ ने हिम्मत न हारी और वे नेपाल से बिना किसी दुभाषिये के ही तिब्बत की ओर चल पड़े।

तिब्बत पहुँचने पर सूक्ष्मदीर्घ को सौभाग्यवश एक अच्छे व्यक्ति का आश्रय मिल गया और कठिनाई या असुविधा का कोई अवसर पैदा न हुआ। परन्तु स्मृतिज्ञान के लिये ऐसी कोई व्यवस्था न हो सकी। तिब्बती भाषा का ज्ञान न होने के कारण वहाँ के अपरिचित लोगों में अपने व्यक्तित्व के लिये कोई स्थान बनाना अत्यन्त कठिन था। इसलिये स्मृतिज्ञान ने वहाँ की लोक भाषा सीखने के लिये एक पशु-पालक के यहाँ रेवड़ चराने की नौकरी कर ली। स्मृतिज्ञान बड़े विद्वान और ज्ञानी पुरुष थे तथा स्वभाव के अत्यन्त विनम्र और सुसभ्य, परन्तु वह पशु-पालक-परिवार एकदम उजड्ड असभ्य और कर्कश-प्रकृति था। उस परिवार में किसी भी पढ़े लिखे व्यक्ति का नौकर के रूप में गुज़र-बसर करना आसान काम न था, लेकिन स्मृतिज्ञान ने वह भी किया।

पशुपालक ब्रह्मपुत्र कांठे का निवासी था। उसकी स्त्री का स्वभाव बड़ा कठोर था। स्मृतिज्ञान के प्रति उसका व्यवहार तो असह्य था। स्मृतिज्ञान सारा दिन भेड़ें चराते। सायं के समय थक टूटकर लौटते। उनकी यह कर्कशा मालिकिन उन्हें फिर भी आराम लेने न देती। किसी न किसी काम में लगा देती। किसी

नौकर या व्यक्ति से काम लेने की कोई हद, कोई सीमा होती है। लेकिन स्मृतिज्ञान की मालिकिन के लिये ऐसी कोई सीमा न थी। वह रात के समय स्मृतिज्ञान को सत्तू पीसने पर लगा देती। बेचारे स्मृतिज्ञान परमार्थ के मारे ये सब काम हँसी खुशी से करते। कई बार रात के समय उन्हें खाने को कुछ न मिलता और वे भूखे ही रह जाते। उनकी यह मालिकिन इतने काम करवाने के बाद भी उन पर कभी प्रसन्न न होती, प्रायः उन्हें बुरा भला कहती, फटकारती रहती। लेकिन स्मृति ज्ञान को जाने इतना धैर्य, इतनी सहनशीलता कहाँ से मिली थी कि वे अपनी मालिकिन के सामने न कभी बोलते, न कभी उनकी आज्ञा-पालन से इन्कार करते।

स्मृतिज्ञान के सामने एक बहुत ऊँचा आदर्श था—एक बहुत उज्ज्वल उद्देश्य था। वे इन सब असह्य अपमान-जनक एवं कष्टदायक विपत्तियों को झेलते हुए अपने उद्देश्य-पथ पर आगे बढ़ते रहे। भेड़ें चराने के काम से उन्हें, जैसा वे चाहते थे, लाभ हुआ। स्थानीय चरवाहों के साथ मिलकर रहने से उन्हें वहाँ की विशुद्ध भोंट-भाषा बोलने और समझने में निपुणता प्राप्त हो गयी। इसके साथ ही उन्होंने भोंट लिपि का पढ़ना और लिखना भी सीख लिया।

इस प्रकार भोंट-भाषा में पारंगति प्राप्त कर लेने के पश्चात् स्मृतिज्ञान ने भेड़ें चराने की नौकरी छोड़ दी और बौद्ध धर्म एवं बौद्ध शास्त्रों का प्रचार आरंभ कर दिया। थोड़े ही दिनों में वे, जो वहाँ के लोगों की नजरों में एक साधारण चरवाहा-नौकर थे, एक अत्यन्त समादर के पात्र बन गये। लोग उनको सिर आँखों पर बिठाने लगे। उनकी पूजा करने में अपना सौभाग्य मानने लगे।

स्मृतिज्ञान ने अध्यापन व प्रचार के साथ साथ भारतीय

ग्रन्थों का अनुवाद भी भोंट भाषा में करना आरंभ कर दिया। उनके इस काम में एक भारतीय विद्वान विभूति चन्द सहयोग देने लग गया। इन दोनों ने मिलाकर बिना दुभाषिये की सहायता के अनेक भारतीय ग्रन्थों का अनुवाद तिब्बती भाषा में सम्पन्न कर लिया।

स्मृतिज्ञान ने 'स्मन-लुंग्' स्थान पर एक स्थानीय विख्यात व्यक्ति 'ब्सोद-नम्स् ग्र्यल्' को बौद्ध ग्रन्थों की शिक्षा दी। इसके पश्चात् वे तिब्बत के पूर्वी प्रदेश में जाकर कार्य करने लगे। वहाँ उन्होंने 'डदन-क्लोङ्ग-थङ' नामक स्थान पर एक विद्यालय स्थापित किया, जिसमें 'अभिधर्म कोश' के अध्यापन की व्यवस्था थी। उन्होंने जिन ग्रन्थों का अनुवाद किया उनमें से 'चतुष्पाठ-टीका' और 'वचन मुख' विशेषतः उल्लेखनीय हैं। इन ग्रन्थों के मूल-रूप भी उन्हीं ने लिखे थे।

तिब्बत जाकर स्मृतिज्ञान ने अपनी सारी आयु वहीं बौद्ध धर्म और भारतीय संस्कृति के प्रचार तथा ज्ञान-प्रसार में व्यतीत की। वहीं उनका देहावसान हुआ। उनके देहावशेष भी तिब्बत के उसी पूर्वी प्रदेश में एक स्तूप में सुरक्षित कर दिये गये थे। शताब्दियों से वह स्तूप उनकी पुण्य-स्मृति का द्योतक बना हुआ है।

○

: २० :

संगीतज्ञ सुजीव, झा और विन्दा

भारतीय संगीतज्ञों ने भी प्राचीन काल में मध्य एशिया, चीन तथा अन्य कितने ही देशों में जाकर अपनी कला का प्रदर्शन करके वहाँ के लोगों को विमोहित कर दिया था। जहाँ भी वे गये वहाँ के संगीत को भारतीय संगीत-स्वरों से एक नयी मनोज्ञता, एक अभिनव आकर्षण-सुषमा से अलंकृत कर दिया।

यह बताना संभव नहीं कि कौन-कौन संगीतकार सबसे पहले मध्य एशिया के प्राचीन कुची देश में पहुँचे थे, परन्तु एक बात निःसंदेह कही जा सकती है कि प्राचीनकाल में ही कई भारतीय संगीतकला-निपुण परिवार कुची देश में जाकर बस गये थे। उन्हीं के उत्साह और लग्न के प्रभाव से भारतीय संगीत की मंजुल धारा कुची से चीन और जापान तक वह निकली थी। उन कलाकारों में भारतीय 'झा'-वंशी ब्राह्मण संगीतज्ञों के नाम उल्लेखनीय हैं।

ईसा की छठी शताब्दी के शेष भाग में कुची के एक भारतीय परिवार का सुपूत 'सुजीव' नामक एक गीतकार चीन गया था। वह वीणा बजाने में सिद्धहस्त था। उन दिनों चीनियों के संगीत में स्वर-सप्तक नहीं था। उनका संगीत स्वर-पंचक ही से गठित था। सुजीव ही ने सबसे पहले चीन के संगीत जगत में सप्तक का प्रचार किया।

सुजीव यद्यपि कुची देश से चीन गया था, परंतु वास्तव में वह वहाँ का मूल अधिवासी नहीं था। उसके पूर्वज भारत से कुची जा बसे थे। उसके परिवार में वंश-परम्परा से ही संगीत का प्रचलन था। सुजीव के संगीत से चीन के लोग बहुत मुग्ध हुए। इस प्रकार भारतीय संगीत को सर्वप्रियता मिलने लगी। इसका एक कारण यह भी था कि चीन-संस्कृति में संगीत को बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त था और कनफ्यूसशीय मत के धर्म-कर्म में संगीत के प्रयोग की आवश्यकता पड़ती थी।

सुजीव ने चीन में स्वर-सप्तक को जो नाम दिये थे, वे चीन साहित्य में मिलते हैं। उनमें से चार नाम तो निःसंदेह भारतीय संगीत-शास्त्र से ही से लिये गये हैं, जैसे—षड्ज (चीनी—शा-जे), सहग्राम (शा-हु-गिया-लान्), पंचम (पान-चेन) और ऋषभ (हु-लि-शे)। अन्य तीन नाम चीनी भाषा में जिस रूप में पाय जाते हैं (सो-थो-लि, कि-जे, शा-ला), उनका मूल क्या है, यह ठीक पता नहीं चलता, पर स्वर-ग्राम के जिन कई एक नामों का उद्धार किया गया है, उनसे स्पष्ट मालूम होता है कि ये सब नाम भारतीय संगीत से लिये गये थे।

यहाँ एक बात विशेषतः उल्लेखनीय है कि ५८१ ई० में चीन-सम्राट् ने विभिन्न देशों का संगीत, वाद्य सुनने के लिये एक विराट् सम्मेलन का आयोजन किया था। उसमें भारत, कुची, समरकन्द, काशगर, सुग्ध, कम्बोज, जापान आदि देशों की आर्केस्ट्रा-पार्टियाँ सम्मिलित हुई। उस सम्मेलन में भारतीय संगीत को सबसे ऊँचा स्थान प्राप्त हुआ था। चूंकि सुजीव उन्हीं दिनों चीन गया था, इसलिये वह भी उस सम्मेलन में सम्मिलित हुआ होगा, ऐसा अनुमान करना असंगत नहीं होगा। उसके अतिरिक्त और भी कई भारतीय संगीतकारों ने सम्मेलन में भाग लिया था, यह कहना भी गलत नहीं है, क्योंकि उन

गीतकारों का विवरण चीनी साहित्य में इस प्रकार मिलता है—

"भारतीय गीतकार सिर पर काले कपड़े की टोपी पहने हुए थे। उनके शरीर पर सफेद सिल्क के परिधान शोभित थे। वायलेट (बेगुनी) रंग के ब्रोकेट या कमखाव का तंग पायजामा और लाल रंग का एक ओवरकोट (चोगा) पहने हुए थे। उनके प्रत्येक दल में दो दो व्यक्ति नृत्यकार भी थे। उनके सिर के बाल खूब सजे हुए और घूंघराले थे और शरीर पर बौद्ध भिक्षुओं के ऐसे ढीले-ढाले चोगे, पाँव में रस्सी के जूते पहने हुए थे। उनके वाद्य-यंत्रों में काँसर (कांसी का थाल सा), तीन प्रकार के ढोलक (सम्भवतः मृदंग और तबला), नाल की बंसी (सम्भवतः शहनाई), वीणा के ऊपर के भाग पर काल्पनिक जन्तु के मुख जैसा खुदा हुआ चित्र, पाँच तारों का वीण (तान पूरा), कर ताल और शंख आदि थे।"

इस वर्णन से मालूम होता है कि भारतीय गीतकारों के साज-सज्जा में प्रायः डेढ़ हजार वर्ष से कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ।

ठीक इसी युग में कुची का एक और भारतीय गीतकार चीन पहुँचा था। चीनी साहित्य से मालूम होता है कि वह गीतकार था, ब्राह्मण वंशीय और उसके वंश का नाम था—'जाओ'। यह नाम 'झा' (ओझा, उपाध्याय) नाम ही का चीनी रूपान्तर है। उस गीतकार का अपना चीनी नाम था 'मिआओ-ता'—यह नाम संस्कृत के 'सुप्रकाश' या 'सुबोध' के ऐसे नाम का चीनी अनुवाद है। उस 'झा' परिवार के लोग वंशानुक्रम ही से संगीत-विद्या के पण्डित चले आते थे।

मिआओ-ता झा को संगीतकला में अद्भुत पारदर्शिता प्राप्त थी। उसके प्रभाव से थोड़े ही दिनों में भारतीय संगीत

ने राजा-राजवाड़ों को आकर्षित कर लिया था। अतः भारतीय संगीत की यह सर्वप्रियता चीन के संगीत के लिये मारात्मक सिद्ध होगी—इस आशंका से चीन सम्राट् ने भारतीय संगीत के प्रचलन को बन्द करने का प्रयत्न किया, परन्तु सफलता न मिली।

ईसा की सातवीं शताब्दी के आरंभ में 'मि-ता' (विन्दा) नामक एक और भारतीय गीतकार कूची से चीन गया था। वह भी संभवतः 'झा' वंश ही का एक कलाकार था। उसे भी संगीत विद्या में इतनी दक्षता उपलब्ध थी कि चीन-सम्राट् भी मुग्ध हुए बिना न रह सका। फलस्वरूप सम्राट् ने उससे अनेक गीतों की रचना करा ली।

उन भारतीय संगीत-विशारदों की पारदर्शिता के सम्बन्ध में चीन के साहित्य में नाना विवरण मिलते हैं। उनके अनुसार, 'वे कलाकार कोई भी स्वर एक बार सुन कर उसे अपने वाद्य-यंत्रों द्वारा बजा सकते थे। वर्षा-काल में जब वर्षा आरंभ होने से झरनों, प्रपातों की सैकड़ों धाराएँ अपने संगीत से समस्त दिगन्त मुखरित करती हुई बह निकलती थीं, तब उन गीतकारों के दल के दल पहाड़ों के निकट पहुँच कर उन झरनों-प्रपातों के ध्वनि-स्वरों को अपने वाद्य-यंत्रों द्वारा संगीत में रूपान्तरित कर लेते थे, इस प्रकार उन्होंने संगीत में नये-नये स्वरों को शामिल किया था।

चीन के साहित्य से इस बात का भी पता चलता है कि जितने भी भारतीय संगीतकार दल चीन गये, वे अपने साथ अनेक नृत्य-निपुण कलाकार भी ले गये। उन नृत्यकारों ने जिने नृत्यों का वहाँ प्रदर्शन किया, उनमें से दो एक के नामों का उल्लेख चीनी साहित्य में मिलता है, जैसे—'शान्ति नृत्य', 'पञ्च सिंह-

नृत्य' इत्यादि। सिंह नृत्य में नृत्यकारों को सिंह का स्वांग भरना पड़ता था। स्पष्ट है कि नृत्यकार सिंह के बनावटी चेहरे पहन कर पंच सिंह नृत्य दिखाया करते थे। उस नृत्य में प्रायः १४० नृत्यकारों की आवश्यकता होती भी। बनावटी चेहरे पहन कर नृत्य करने की प्रथा का प्रवर्तन भारतवर्ष ही में हुआ था और धीरे-धीरे उनका प्रचलन अन्य देशों में भी फैल गया था।



: २१ :

संगीतज्ञ बोधि ब्राह्मण

भारतीय संगीतज्ञ व वाद्यकार भी विदेशों में गये थे, इस बात के प्रमाण भी चीन और जापान आदि देशों के प्राचीन साहित्य से मिलते हैं। जापानी के प्राचीन साहित्य से मालूम होता है कि बोधि नामक एक ब्राह्मण संगीतकार ईसा की ८वीं शताब्दी में जापान पहुँचे थे। वे संभवतः मध्य एशिया से होते हुए पहले चीन, फिर कोरिया और कोरिया से जापान पहुँचे होंगे। उन्होंने जापान में विशेषतः दो भारतीय स्वरों अथवा रागों का प्रचलन किया। उन दोनों स्वरों या रागों के नाम हैं 'बोधिसत्त्व' और 'वैरो'। इन दोनों स्वरों में नृत्य के ताल के साथ धर्म-गीत गाये जाते थे। ऐसा मालूम होता है कि 'बोधिसत्त्व' राग बौद्ध भिक्षाओं में गाया जाता था। इसके विषय में जापानियों ने किसी विशेष तथ्य का उल्लेख नहीं किया है। परन्तु 'वैरो' राग के सम्बन्ध में उन्होंने जो कुछ कहा है, उससे स्पष्ट मालूम होता है कि वे इसे एक भारतीय राग अथवा संगीत मानते थे। उनके साहित्य में वैरो राग के मूल रचयिता का नाम 'पान्-लांङ-तो' (भरत) ऋषि दिया गया है और कहा गया है, 'यह राग युद्ध स्थल में जाते समय सैनिक गाया करते हैं। यदि सात बार गाने पर भी 'शा-मो' शब्द रहता है, तो युद्ध में निश्चित रूप से विजय प्राप्त होती है।"

जापानी भाषा में भारतीय नाम विकृत हो गये हैं, इसलिये उनके अर्थ खोजने में कठिनाई एवं विषमता पैदा हो गयी है। फिर भी इसमें संदेह नहीं है कि 'पान-लाङ-तो' नाम भारतीय नाम 'भरत' ही का रूपान्तर है, जो हमारे यहाँ नाट्य शास्त्र के प्रवर्तक माने जाते हैं। जहाँ तक 'शा-मो' शब्द का सम्बन्ध है यह संस्कृत शब्द 'सम' (हिन्दुस्तानी सोम्) का रूपान्तर है। यह संगीत-शास्त्र का परिभाषिक शब्द है और छन्द या ताल के विराम स्थान (वकफे) का नाम है। कोई भी राग सात बार गाने पर भी इस विराम स्थान पर छन्द या ताल को बहाल या काइम रख कर निर्भूल भाव से पहुँच सकना संगीत में एक विशेष दक्षता का सूचक है।

'बैरो' नाम संस्कृत 'भैरव', हिन्दुस्तानी 'भैंरो' नाम ही का विकृत रूप है। भैरव शायद रौद्र-रस का प्रतीक है, इसीलिये इस राग का युद्ध-कालीन संगीत में प्रयुक्त होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। संसार के संगीत-शास्त्रों में भारत ही का संगीत-शास्त्र सबसे पुराना है, इस लिये भरत ऋषि राग के स्रष्टा हैं। राग-सृष्टि की इस कहानी और भैरव राग का प्रचार जापानी में भारतीय बोधि ब्राह्मण गीतकार ने किया था। उन्हीं ने इस संगीतधारा का प्रचार चीन देश में भी किया था, यह अनुमान करना असंगत नहीं होगा।

○

: २२ :

ज्योतिर्विद 'सिद्ध' एवं 'गौतम प्रज्ञारुचि'

अनेक भारतीय ज्योतिर्विद् भी भारत से विदेशों में गये थे इसके भी नाना प्रमाण मिलते हैं। वे केवल मध्य एशिया और चीन आदि देशों ही में नहीं गये थे, प्रत्युत संसार के अन्य देशों में भी पहुँचे थे। इस समय हम केवल मध्य एशिया एवं चीन देशों ही की चर्चा कर रहे हैं, इसलिये इन्हीं देशों की यात्रा करने वालों का उल्लेख करेंगे।

प्राचीन काल में जो ब्राह्मण ज्योतिषी चीन जाते थे, उन्हें वहाँ की राज-सभा में भी यथोचित स्थान मिलता था। कारण यह था कि चीन सम्राट् अनेक राजकीय कार्यों में तिथि नक्षत्र-स्थिति के निर्णय की आवश्यकता समझते थे। यह काम ज्योतिष के पण्डितों की सहायता के बिना सिद्ध नहीं हो सकता था। इसलिये उन्होंने एक सरकारी ज्योतिष-कार्यालय स्थापित कर रखा था। उस कार्यालय में भारतीय ज्योतिषियों को उच्च स्थान मिलता था।

चीन के साहित्य से इस बात की सूचना मिलती है कि ईसा की छठी शताब्दी में कई गौतम-वंशीय भारतीय ज्योतिषी चीन गये थे। उनमें से वाराणसी के 'गौतम प्रज्ञारुचि' का नाम विशेषत: उल्लेखनीय है। वे ५१६ ई० में चीन पहुँचे थे। संभवत: परिवार सहित चीन में जा बसे थे, या उन्होंने वहीं

विवाह कर लिया था। चीन के बौद्ध साहित्य में शायद इसी लिये उन्हें 'गृही बौद्ध' कहा गया है, परन्तु चीन साहित्य के अन्य कई स्थलों पर उनका उल्लेख एक ब्राह्मण पण्डित मान कर किया गया है। उनके एक पुत्र गौतम धर्मज्ञान का उल्लेख भी मिलता है। धर्मज्ञान का जन्म संभवतः चीन ही में हुआ था।

सम्राट् के आदेश से प्रज्ञारुचि ने एक संस्कृत ग्रन्थ का चीनी भाषा में अनुवाद भी किया था। वास्तव में वे चीन-सम्राट् के अधीन एक उच्च सरकारी पद पर आरूढ़ थे। उन्हें ५५१ ई० में 'इयाङ-सेन' नामक स्थान के शासन-कर्त्तापद पर नियुक्त कर दिया गया था।

भारतीय विद्याओं के प्रति चीन में विशेष रुचि के कारण छठी शताब्दी के अंतिम चरण में भारतीय ज्योतिष और गणित के पाँच संस्कृत-ग्रन्थों का अनुवाद चीनी भाषा में प्रस्तुत किया गया। वे अनुवाद-ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं, लेकिन उनके नामों का उल्लेख चीनी साहित्य में पाया जाता है। चीन के लोगों की संभवतः यह धारणा थी कि ज्योतिष विद्या एवं गणित-शास्त्र में दक्षता एवं पारंगति का श्रेय भारतीय ब्राह्मणों ही को पहुँचता है, इसलिये चीनी भाषा में उन अनूदित ग्रन्थों के नाम इस तरह रखे गये—'ब्राह्मण-ज्योतिषशास्त्र', 'ब्राह्मण-ग्रहशास्त्र', 'ब्राह्मण-गणितशास्त्र इत्यादि।

चीन के साहित्य से यह भी मालूम होता है कि ईसा की शताब्दी के शेष भाग में चीन की राजधानी में भारतीय ज्योतिष के तीन विभिन्न सम्प्रदाय काम करते थे। उनके नाम यह थे—गौतम, काश्यप और कुमार। गौतम सम्प्रदाय के ज्योतिषियों ने चीन-सम्राट् के आदेश से ६८४ ई० में एक तिथि-पञ्जी तय्यार की थी। वह पंजी तीन वर्ष तक प्रचलित रही।

गौतम सम्प्रदाय के 'सिद्ध' नामक एक और प्रख्यात ज्योतिषी चीन गये थे। उन्होंने ७१८ ई० में एक और तिथि-पंजी तैयार की थी। यह पंजी चार वर्ष तक प्रचलित रही। इस पंजी का नाम 'नव-ग्रह सिद्धान्त' था। कहा जाता है कि यह ग्रन्थ आज भी चीनी भाषा में सुरक्षित है।



: २३ :

आयुर्वेदाचार्य नारायण स्वामी और कृष्ण विदेशी

भारत से आयुर्वेद के विशेषज्ञ भी विदेशों में गये थे, इस बात के भी प्रमाण चीनी साहित्य से मिलते हैं। वास्तव में जो भी भारतीय चीन पहुँचते थे, वे यदि स्थल-पथ से यात्रा करते थे, तो मध्य एशिया के नाना देशों से होकर एवं वहाँ प्राय: कुछ समय तक निवास करने के पश्चात ही चीन के लिये प्रस्थान करते थे, और यदि वे समुद्र-पथ से जाते थे तो सिंहल (सीलोन), मलय, जावा, सुमात्रा आदि द्वीपों से होते, रास्ते में उन देशों में प्रचार-कार्य करते हुए चीन पहुँचते थे। इस तरह उन्हें अनेक देशों की यात्रा एवं जनकल्याण के काम करने का अवसर मिल जाता था।

चीन में अन्य भारतीय विद्याओं की भांति आयुर्वेद को भी सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। चीन-सम्राटों की यह धारणा थी कि भारतवर्ष के वैद्य उन सब औषधियों के ज्ञान से सम्पन्न होते हैं, जिन के प्रयोग से मनुष्य की आयु लम्बी हो सकती है। इसलिये उन्हें भारतीय वैद्यों की टोह सदा ही रहती थी और ऐसे वैद्यों को ढूंड लाने के लिये अपने दूत भारत भेजा करते थे।

चीन के साहित्य से मालूम होता है कि ईसा की सातवीं

शताब्दी में नारायण स्वामी नामक एक भारतीय ब्राह्मण वैद्य चीन गया था और उसने चीन के सम्राट् को दीर्घ-आयु करने के लिये अपनी औषधियों का प्रयोग किया था। यह भी पता चलता है कि आयुर्वेद के दो एक संस्कृत-ग्रन्थों के अनुवाद चीनी भाषा में हुए थे। अनुवाद के अतिरिक्त भारतीय पौधों जड़ी बूटियों एवं औषधियों के नाम भी चीनी भैषज्य-शास्त्र में पाये जाते हैं।

ईसा की पाँचवीं शदाब्दी के मध्य भाग में बौद्ध धर्म का प्रचार दक्षिण कोरिया तक फैल गया था। उन दिनों उन देशों में एक और भी भारतीय आयुर्वेदाचार्य के पहुँचने की सूचना मिलती है। वह वैद्य जब कोरिया पहुँचा, तो उसका प्रकृत नाम वहाँ के लागों को मालूम न हो सका तो उन्होंने उसका नाम 'कृष्ण विदेशी रख दिया। वह इसी नाम से कोरिया में प्रसिद्ध हो गया, लेकिन वह चीन से होकर गया था, इसमें संदेह की गुंजाइश नहीं है।

कृष्ण विदेशी न कोरिया में सिल्लर की राजकुमारी को अपने चिकित्सा-नैपुण्य के द्वारा एक कठिन रोग से छुटकारा दिलाया था। इससे उसकी ख्याति को चार चाँद लग गये थे और उन देशों में भारतीय आयुर्वेद का भी सिक्का जम गया था।

○

: २४ :

शुभाकर सिंह

आठवीं शताब्दी ईसवी के पहले भाग में नालन्दा विश्वविद्यालय के एक और विख्यात पण्डित चीन देश में गये। उनका नाम था शुभाकर सिंह। उनका जन्म कपिलवस्तु के के शाक्य वंश में हुआ। उस युग में चीन के लिये मध्य एशिया के रास्ते से यात्रा करना जान-जोखिम का काम था। परन्तु शुभाकर सिंह नें इस जोखिम की परवा न करते हुए इसी रास्ते से अपनी यात्रा आरंभ की। वे अनेक विघ्न-विपत्तियों का सामना करते हुए ७१६ ई० में उत्तर चीन के 'लो-इयाङ' शहर में पहुँचे। यहीं बोधि रुचि के साथ उनकी भेंट हुई।

शुभाकर सिंह भारत से अपने साथ बहुत से संस्कृत-ग्रन्थ चीन ले गये थे। उनमें से कई ग्रन्थों का अनुवाद उन्होंने चीनी भाषा में किया। ७१६ से ७२४ ई० के मध्य उन्होंने पाँच पुस्तकों का अनुवाद सम्पन्न कर लिया था। उन्होंने चीन में बौद्ध धर्म के तान्त्रिक मत का प्रचार किया और कई बौद्ध तन्त्र-ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद भी किया।

इस प्रकार चीन में लोक-कल्याण के लिये धर्म-प्रचार और अनुवाद करते हुए शुभाकर सिंह ने ९९ वर्ष की आयु में देह का त्याग कर दिया।

○

: २५ :

वज्र बोधि

वज्र बोधि तान्त्रिक बौद्ध मत के एक विख्यात आचार्य थे। उनका जन्म मध्य-भारत के राजा ईशान वर्मा के यहाँ हुआ। छोटी ही आयु में उनके मन में त्याग और परमार्थ की भावना अंकुरित हो गयी थी। इसी आयु में उन्होंने बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली और शिक्षा प्राप्त करने के लिये नालन्दा चले गये। नालन्दा विश्वविद्यालय में भली प्रकार से शिक्षित होने के पश्चात् वे पश्चिमी भारत के वल्लभी नगर पहुँचे। उन दिनों वल्लभी नगर भी शिक्षा का एक प्रधान केन्द्र था। कुछ समय यहाँ भी अध्ययन-अनुशीलन करने के बाद वे दक्षिण भारत की ओर चले गये।

दक्षिण भारत की यात्रा करते हुए वज्र बोधि काँची नगर पहुँचे। वहाँ उन्हें राज-सभा में बड़ा सम्मान मिला, यहाँ तक कि उन्हें पल्लवराज नरसिंह पोतवर्मन के पुत्र के शिक्षक तथा राज-गुरु के उच्च-पद से सुशोभित किया गया।

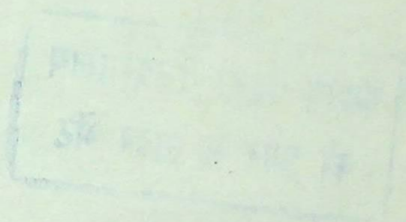
मालूम होता है कि वज्रबोधि के मन में परमार्थ, जन-कल्याण और ज्ञान-प्रसार की लग्न इतनी प्रबल थी कि उनके लिये एक स्थान पर चैन से बैठे रहना कठिन था। कुछ समय तक एक स्थान पर रहने के पश्चात् वे इस बलवती लग्न के प्रभाव से अन्य स्थान के लिये प्रस्थान कर जाते थे। अतः काँची रहते हुए

जब कुछ समय बीत गया, तो उन्होंने सिंहलद्वीप की राह ली। सिंहल द्वीप पहुँचने पर उन्हें राजदरबार में यथोचित सम्मान मिला। वह राजा के एक विश्वासपात्र बन गये।

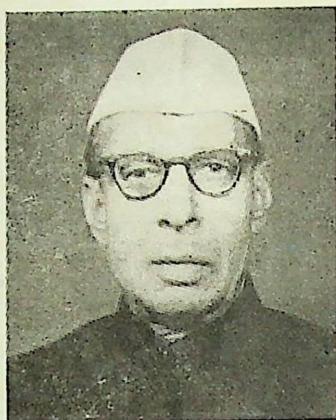
सिंहल-राज ने वज्रबोधि को, चीन के सम्राट् को बौद्ध-शास्त्रों का उपहार भेंट करने के लिये चीन भेजा। उस जमाने में सिंहलद्वीप से जल-पोत के द्वारा चीन से यातायात होता था। यह समुद्र-यात्रा कितनी कठिन और जोखिम की होती थी, इसका अनुमान करना आज के परम यातायात-सुविधा-सम्पन्न दौर में कठिन है।

७२० ई० में वज्रबोधि चीन के कैण्टन नगर पहुँच गये। उनके त्याग और पाण्डित्य से चीन के विद्वान् लोग बहुत प्रभावित हुए और बहुतों ने उनका शिष्यत्व ग्रहण कर लिया। चीन में रह कर उन्होंने ७३० ई० तक तांत्रिक बौद्ध मत के नाना ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। इस नये धर्ममत ने चीनी बौद्ध समाज को आकृष्ट किया और इसकी प्रबल धारा चीन के विस्तृत क्षेत्र में बह निकली। वज्रबोधि का नाम अनेक स्थानों पर विख्यात् हो गया। इस मत के प्रचार में वज्रबोधि के शिष्य अमोघ वज्र ने भी बहुत योग दिया। ७३२ ई० में वज्रबोधि ने चीन के लो-इयाङः शहर में अंतिम समाधि ले ली। उन्होंने जिन ग्रन्थों का अनुवाद किया उनकी संख्या ११ बताई जाती है।

○



जगन्नाथ प्रभाकर



लेखक की आगामी कृति
'विश्व-व्यापी भारत'

अपने सौम्य बाह्य आकर्षण और आंतरिक अर्थात् विषय-स्थित उपयोगिता के प्रेरणादायक सौन्दर्य के साथ निकट भविष्य में उदय होने की मन्ज़िलें तय कर रही है। इसका उदय हज़ारों वर्ष-व्यापी उस अंधकार को छिन्न-भिन्न करके रख देगा, जिसने भारत के देदीप्यमान गौरवमय अतीत को अपने दुर्भेद्य पर्दों में ढक रखा है। भारत के अतीत का उज्ज्वल चित्र आपके सामने जगमगा उठेगा और आप देखेंगे कि एक ज़माना था जब संसार का कोई भी कोना ऐसा शेष नहीं रह गया था, जहाँ भारत अपनी संस्कृति, सभ्यता और ज्ञान की पताका लेकर नहीं पहुँच गया था, और जहाँ आज भी उसकी चिर-स्थायी संस्कृति व कला के नाना निदर्शन एवं उपनिवेशों के खण्डहर मौजूद नहीं। भारत के इस विश्व-व्यापी दर्शन के लिए इस पुस्तक को प्राप्त करने का अभी से प्रबन्ध कर लीजिये।

○

